कविता अभी भी



रतनलाल शांत

"कथ्य तथा शिल्प के प्रति बदलते रुझानों, कवि की सोच तथा आसपास के साथ उसके सरोकारों की अभिवृत्ति में बीसवीं शती के छठे दशक में ऐसे परिवर्तन आने लगे कि उन्हें तरह तरह के आंदोलनों के रूप में देखा जाने लगा। वास्तव में ये कथ्य के ही दबाव थे कि इन को नाम दिए गए। सर्जनशील कवियों में कई इनसे जुड़ गए और कई किसी आंदोलन से जुड़े बगैर ही समकालीन सरोकारों के दबावों की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता स्वीकार करने लगे। आज स्थिति है कि नाम तथा परिभाषा के सहित या उसके बिना भी इन सरोकारों की संसक्ति सृजनरत कवि में मौजूद है और अनुभूति तथा चिंतन के स्तर पर उसे जीने का तर्क दे रही है। कुल मिलाकर तेज़ बदलते जीवन को ईमानदारी से अनुभव करने की दृष्टि कविता की मूलभूत निरंतरता के लिए भी तर्क प्रदान करती रही है। निरंतरता के इस परिप्रेक्ष्य में रतनलाल शान्त की कविता को देखा जा सकता है। 'कविता अभी भी' इनका दूसरा संकलन है। पहले संकलन "खोटी किरणें" तथा प्रस्तुत संकलन के बीच लिखते रहे, यद्यपि प्रकाशित होने के प्रति उतने सचेत नहीं रहे। इन कविताओं में पिछले तीन दशकों की धड़कन को साफ सुना जा सकता है और इस बहुआयामी व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। ये कविताएं न केवल कवि के अपक्रमों को, ब्ल्कि हमारे समय की चिंताओं का एक लगातार चित्रचक्र प्रस्तुत करती हैं।"

रु. 110/-

कविता, अभी भी

रतनलाल शांत की कविताएं

प्रकाशक	:	नीहार प्रकाशन 904, सुभाष नगर जम्मू - 180 005
कंपोजर	:	प्रिंट मीडिया, दिल्ली
मुद्रक	:	New A.S. Offset Press, Delhi-92.
प्रथम संस्करण	:	1997
मूल्य	:	110.00

एक, केवल एक

'राजी' के लिए

कविताएं

प्रश्न	09	26	आंधी में गीत
मैंने नहीं देखा	11	27	उछाह का गीत
मन दहता है	13	28	सूरज साक्षी था
प्रतीक्षा	14	29	रुंआसा सूरज
नारा	17	32	अस्तित्व
आभास	19	34	मुठ्ठियां
मौसम	21	37	रेल यात्रा
मरना नहीं आया	23	38	सूरजमुखियो
भूख की अभिधा	24	39	बूढ़ा समय

जुलूस का सत्य	41	76	बदला मौसम
ताज	43	78	नंवबर के छः परस
कान्हा बहाना था	45	80	वसन्त–1
बात	46	81	वसन्त–2
पैवंद कि आदमी मैं ?	47	82	वसंत–3
एक बच्चा गीत	49	84	जनवरी 1978 में ये तीन कविताएं मेरा वक्तव्य थीं
खोज	51		
दरारें	52	88	प्राइवेट तुकबंदी
मोह	54	90	पेड़
दूसरा जन्म	56	92	नदियां
दिन	57	94	पहाड़
नयी पीढ़ी से	58	98	समर्पण
अगस्त 1980	60	100	अस्सी की आखिरी कविता
उसने समुद्र नापा	62	102	देश
बर्फ हुई घाटी	64	104	हमसफ़र
एक बर्फानी कविता	65	106	रंग
यात्रा	68	107	चिड़िया
प्रतियात्रा	70	108	तमाशा
मेरा शहर	72	109	केसर
जम्मूः दो कविताएं	74	110	संस्कृतिः एक गोल नदी

गजलें 111
आज सुबह अबाबील 116
बुलबुल 117
शरद में 'शीन पिपिन्य्' 118
आपबीती 120
कटने से पहले 121
सवालों का मरीज़ 123
जबान का विकल्प 124
झीलमत 126
देह के पार द्वार 128
कहाँ है प्रदूषण ? 129
भूंचाल 131
तैयारी 132
सन्नाटे में मां 133
दो गज़लें और 135
सपनों की ठिठोली 138
ऋतुचक्र 140
अवकाश 142
बरसात में नीरस कविता 144
बड़े ढीठ हो, कश्मीर 146
148 शहर का पासंग
150 सहज शहर
151 बुलावा
153 प्रमाण पत्र नहीं है मेरे पास
155 कोई मेरा घर देख आए
162 पोथियां
164 पितृभूमि
166 नाखून
167 रेत
168 नदी पूछती है
170 जगमोहन ?
172 पहाड़ पर
173 श्रीनगर : 175
175 आज यह अचानक
नहीं, कृपाराम !
176 घाव
178 वापसी
180 'नई सदी'
182 काश कि दरार...
184 कुछ शेर

आश्वासन

कविता अभी भी मेरा अंतस से संवाद का मुख्य माध्यम है। बिना किसी संभ्रम के। उपक्रम के साथ लिखने के बीच के नितांत निजी क्षणों में कविता, आत्मीय निर्ममता से मेरी नस पर उंगली रखती है और दबे डरे सच को बाहर कर देती है। इधर समय गुज़रने तथा सामयिक संसक्तियाँ बढ़ने के साथ समय तथा लेखन का संयोजन करना पड़ा है। ऐसे में कविता विरोध करके चेताती है तथा निर्बंध निर्वासन में ले जाती है। साक्षात्कार के ऐसे क्षणों में ही मुझे जीवन का वादा मिलता है।

अपने संदर्भ में ही नहीं, मुझे परिवेश के संदर्भ में भी कविता के उपर्युक्त वादे में एक उम्मीद नज़र आती है, जिससे वर्तमान मायूस वातावरण में कुछ सांसों को बचाया जा सकता है। रुचिहीनता बढ़ रही है और इस कारण लेखक तथा भावक का संबंध क्षीण होता जा रहा है स्थिति इतनी त्रासद हो रही है। कि रचित शब्द अब बड़ी मुश्किल से रचयिता को बचाए रख सकेगा। शब्द के बदले सरल रंजन का संप्रेषण (संप्रेषण का भ्रम) और जाने कितनी सफलता से बढ़ेगा। पर स्थिति सदा ऐसी ही बनी रहे, ऐसा सोचना भी ठीक नहीं। इसे संक्राति काल ही माना जा सकता है। हमें शब्द को बचाना होगा, फिसलन से। अर्थ के तमाम दाय और दायित्व के साथ। संक्रातिकाल गुज़रेगा ही। नई प्रस्तुति में आदमी की पहचान तथा अनिवार्य प्रासंगिकता फिर स्थापित करेगी कविता। इस संक्रमण में हम भी हैं। खोखली सरलताओं से बचते हुए। भले ही कठिन आत्म निर्वासन में जीते हुए।



बड़ा कठिन था तीन दशकों की कविताओं से चुनाव करना। तिथियां किसी "अध्ययन" को सुलभ बनाने की दृष्टि से नहीं बल्कि अपनी सोच के संकटों तथा उनसे राहत पाने के मनस्थिति–क्रम के मेरे समझने के लिए हैं। इस दौरान कहानी, नाटक, आलोचना बहुत कुछ लिखा, पर पहले प्रेम से जैसा आश्वासन मिलता है वैसा मुझे भी मिला और मिलता रहा है, कविता से। इस संकलन के नामकरण के समय, विशेषकर।

प्रश्न

तुम कहते हो प्रश्न मत करो
तो नहीं करूंगा
पर तुम भी कब तक काजर की कोठरी में रहोगे
और कालिख नहीं सहोगे?

प्रश्न का जवाब उत्तर नहीं
पर उत्तर भी कहां लाजवाब है?

क्या हुआ यदि प्रश्न प्रथम है उत्तर उत्तर
ऐसा कौन मुखौटा है
कि जिसका भीतर भीतर है और बाहर बाहर?

जब उत्तर था तो नदी का पथ था केवल
अब पानी काला है
और बेचैन है
किनारे हैं जो समांतर नहीं हैं
हवा से बदलने वाली दिशाएं हैं
बादलों के हाथियों ने प्यासी नदी पर
केवल पैरों के निशान छोड़े हैं।

चलो, पहेली बूझने का खेल खेलते हैं......
एक छेदवाला घड़ा है,
और एक तोंदवाला प्रश्न है–
जो नदी के पार होना चाहता है......

अच्छा उत्तर न दो
पर प्रश्न को मंझधार डूबने दो....

घबराओ मत, यों ही इसका विस्तार होगा
न यह डूबेगा
न पार होगा।

अप्रैल, 1980

मैंने नहीं देखा

जहां मैं बैठा था
वहां से मुझे बौनी दिखी
हिमालय की सफेद चोटी

उससे कुछ ऊंची
निपत्ते चिनार की शाखाएं
उन पर दो पक्षियों के
काले थिराए आकार,

उससे और ऊंचे
टिन वाली छतों के मकान
उन पर झूम रहे एंटीनाई हाथ,

उससे और बड़ी,
अपनी खिड़की की चौखट
पूरा परिदृश्य लिए

उससे बड़ी अपनी आंख
मैं खुद अपनी किश्ती का सवार

और सामने फैला मेरे समुद्र का ज्वार
आंख कलम से जुड़ी
कलम हाथ मैं कैद।

मैंने यह नहीं देखा कि पहाड़
भूत लगते हैं निकट, दूर से सुंदर,
चिनार हाथ फैलाकर
बटोरते हैं बादलों से पत्ते और धूप से फूल
एंटीना हवा से शब्द लेते हैं
मेरी खिड़की हवा से ही अर्थ।
चूस लेता है मुझी से नमी मेरी
ठेलता मुझको है लहर पर
मेरे अकेलेपन का समंदर।

1981

मन दहता है

समय अजाने नहीं, चेताके गुजरता है
हर गजर बजने के साथ
हर रोज़ हर रात।

निस्संग सन्नाटा है
पर आसंगों को 'सन्नाता' है
खुद से हो पाती है बात
किसी रात।

मन यों भी जीता है
कैसे भी हो
खिलने से पहले हर काला नभ
अरुणाता है
हर प्रात।

कहना सब नहीं जानें
कहने से पहले हर चित्र धुंधुआता है
रह रह के मन को गहता है
और खामोश दहता है।

जनवरी 1973

प्रतीक्षा

लौटो, तुम, बंधुओ!
बहता रहूंगा इसी नदी में
गो कि जानता हूं, यह
एक बड़े गोल गह्वर में खो जाएगी
गह्वर डकार भी नहीं लेगा।

प्रतीक्षा और नियति
मेरे लिए बने पर्याय
बहूंगा मैं
तुम लौट जाओ!

कुछ उनसा खुद को भी पाकर
उठाए थे मैंने भी हाथ
उनके स्वर में स्वर मिला कर कहा था–
'बाजुओं के शून्य में विस्तार बाँधूंगा'।

लेकिन
पाया मैंने संकरा हुआ और अपना माथ
पतली हुई और गर्दन कमज़ोर

हिल रहा है सिर अनायास
बढ़ रहा जितना शोर
उतना भर रहा मैं हामी।
आँधी होगी या किसी का नया प्रयास –
मेरे उठे ही हैं हाथ
सिकुड़ा ही है माथ
मुझे नहीं उखाड़ेगी, मैं शांतिकामी।

उठे रहेंगे मेरे हाथ
खड़ा सहता रहूंगा प्रतीक्षा में
जलदस्युओं के प्रागैतिहासिक मनोरंजन
करता रहूंगा
हर क्षण
उस कटारी को नमन
जो दस्यु के हाथ से छूटे
और मेरे कान नाक बाल को बिना छूए
गुज़र जाय।

हुआ करें बेचैन आवाज़ें
आया करे मांग भीतर और बाहर की
चुप सुनूगां मैं
पुकारते बैन, डांटती आवाजें।
चुभते जायं एक के बाद एक
'अर्जंट' और 'तुरन्त' वाली स्लिपों के पिन
चुप सहूंगा चुभन।
और फिर एक दिन
फाइलों में डूबा
यह ऊबा बाबू कह देगा
कि मैं था अनिवार्य कभी
(जो मुझे नहीं था मालूम)
अब हो गया अनावश्यक।

लौटो तुम, बंधुओं!
अब चल नहीं पाऊंगा
हर बार
(याद है कब से ?)
यहां आकर सुनी स्थगन की सूचनाएं
लौट जाओ
अपनी अपनी राहें लो
कोई उंगली पकड़ो किसी की बाहें लो
खनकते रुपये को चित गिराओ
या हथेली में पट बिठाओ
भूख लगे तो किसी की फाइल चबाओ
मेज़ से मेज़ फुदको कुर्सी के पैर दबाओ
नहीं तो आओ
लाइन में लग जाओ।

नारा

नई फिल्म देखने की उमंग
पहचानना अपना कोई अनोखा रंग
खो जाना तैरती बत्तखों के संग
अर्थात–जीना बेढंगा ढंग ?

बार बार रौंधना कोई पथ
कोई लकीर
अनसुना करना
अभियान का कोई आमंत्रण।

अपनी केंचुल को कोई सुदंर नाम देकर सजाना
बंधे कवच की सहना पीर

मुझे स्वीकार है
पतली नदी को झील नाम दो
और आइसबर्ग को शबनम
मैं इनही नामों की लगाऊंगा रट।
सुबह को जग कर दो नारा
मैं रात तक उसी से करूंगा गुजारा।

पर नारा तुम दोगे ?
तुमतो खुद ग़ायब हो।
जितनी कोशिश करोगे
उतने तुम नहीं होगे।

नारा कहीं से तो आया था
खोजना मेरी नियति है
फिलहाल,
करता रहे जितना कर सके
मुझे बेहाल
तुम्हारी खोज का सवाल।

नवंबर, 1976

आभास

खूंटे से मत बांधो इसे
और न कोई विश्वास इसके पास
घसीट लाओ।

उगा लेगा चेहरे पर खुद ही
अपनी आंख
भरेगा ही पेट की कांख कांख।

फिरे मारा मारा
छाने खाक
लुभाए इसे कोई दृश्य
चौंधाए कोई प्रकाश
अपनाएगा ही कोई पथ
पहचानेगा ही डगर और कदम!

सुस्ताए
पूछ पूछ कर हारे
लौट लौट कर बैठे भी मन मारे–
चलना तो जानता है।

आपसे हम से नहीं
अपने से खुलना तो जानता है।

चुभोने दो अपने नाखून हथेली में,
इसकी मुट्ठियों में
हवा मत भरो।
रोने दो सपने में
इसकी पलकों में रखने के लिए
आकाश को तह मत करो।

घसीट नहीं लाओ
कोई आभास
इसके पास।

नवंबर, 1976

मौसम

बड़ी तेजी से बदले अबके
चिनार के रंग,
हरे पत्ते लाल हुए
छोटी शाखाएं भूरी हुईं
तने की छाल काली पड़ी
कुछ और झुका
झील पर कुछ और फैला।

स्थिर झील दिन भर सुर्मई रही
सूरज की आखों में दिन भर
गुलाबी डोरे पड़े रहे
बर्फ को गुहारता बन पाखी
भेद गया कर्ण कुहर।

चुभती हवा के थपेड़ों ने
पेड़ों की फुनगियां नंगी कर दीं
सबको झाड़ती बुहारती ठड़ी हवा चली।

पर इन सबके बीच
शहर में भी इक्का दुक्का
हरा रहा चीड़
तना रहा खड़ा
अपरिवर्तित, एकाकार.....

मान गया मैं
ज़रूर बदला होगा
बेदर्दी मौसम।

दिसंबर, 1976

मरना नहीं आया

ईश्वर, तुझे मरना नहीं आया
पंक्ति में ही सजे, बंधे,
तुम्हें किताबी कीड़ा रहना भाया।

ऊंची भौंह की देहली पर तू टिका
शहरों की गूदड़ में चोरी से बिका
सुरक्षित बंधा रहा चोटी की गांठ
और धुला तीरथ की धार

सुंघा नहीं चीकट सिलवट में
बिवाई में नहीं भरा
दिशा गुंजाती यात्रा में बे रोक जिया
मृगजलघिरी परती पर नहीं मरा

झंडों के संग भोंपुओं से हवा में तैरा
धरा पर ताम झाम से उतरा
और आंख खोलते प्रश्न–अंकुरों पर
भारी पैर धरा।

दिसंबर ,1972

भूख की अभिधा

बुक शेल्फों से निकली आग
समेट लेते हो
ठंडे घुटनों के बीच,
(वहीं निरापद जगह है)
और बिफरी भीड़ पर
आभिजात्य का
व्याकरण लिखते हो!

बज रही खाली थालियों का है 'जल तरंग'।
आंजुरियों में क्या भरेगा
जल कि तरंग?

भूखी जीभ जब तेज़ छुरी सी
जांघ को काटती है
तो घुणाक्षर न्याय का इंतज़ार
बेकार होता है।

बरस बरस कर रह जाएंगी
जब
आंखे केवल नम
तो किन पलकों पर दिपेंगे
तुम्हारे 'कोमल' 'उदात्त' सम शम दम.....?

दिनभर तपी तारकोल की रात
जगाया करती है—
धूल से छुरी, पसीने से बिफरी भीड़ें
जिनके बीज
शहरों की खुली गंधाती नालियां
बेरोक उगाया करती हैं।

जून, 1980

आंधी में गीत

उठती नज़रो को बांध रहा झुकती सी छत का घेरा है
क्यों हो विश्वास करूं कैसे कल्पना खुले आकाश की!
रंगों का एक जुलूस बढ़ा
पीछे छूटा मेरा प्रसंग
ठण्डे हाथों से बुझा रहा
कोई मेरे भी उजले रंग
है और मेरी निर्गंध नियति है और मलय वातास की
खोली न जाय मुझसे पिछली खिड़की अपने इतिहास की।
मेरे सुंदर ऊंचे पर्वत
बोला करते बस इश्तहार
कालिख के अक्षर पाट रहे
हर मौन मगर रोशन दरार
भूलेगी क्या अब आदत ही कुछ धूप की कुछ सांस की?
अब ओले उग आएंगे क्या हो आड़ ज़रा मधुमास की?
यह विगत मेरा आखड़ा हुआ
है शीष झुकाए पशेमान
चिपकाए विज्ञापन मुंह पर
कुछ कहना चाहे वर्तमान
लेकिन मेरे दरवाज़े पर हल्दी में आँक गई अक्षर
आंधी में तौल रही है पर, यह रेखा एक प्रकाश की।

उछाह का गीत

नीले नभ पर सोनचिरैया
मेरे मन में सोनजुही
तन में मन मन भर उछाह
उत्सवभीने झिलमिल तम में
कोई ज्योति पुंज उछाल दे।

सांसें बुनें सुरभि की मखमल
घनी तूलिका पलक पलक
कोरों में ढलते इंद्रधनुष
तिर रहे बर्फ के फाहों पर अनगिनत रुपहले ताजमहल
कोई मुझको भी रतनारे
गुलमुहरों का इंद्रजाल दे।

फरवरी, 1972

सूरज साक्षी था

हवा चली
और पराग के नाम पर
हर नथुने में और हर आवाज़ के मुख में
कांच की बुकनी डाल गई।
उतना ज्यादा रुंधा
जितना था जो स्वर मुखर।

सूरज अंधा था
इसलिए साक्षी था।
आंख होती थी आकाश की
आंख होती थी सर्वव्यापी
दिनभर नभ उसे बंद किए रहा
और उस पर अंधे सूरज को चिपका दिया।

कोई जान नहीं सका
कि बहुत देर से
सूरज एक ही जगह टंगा है
और ज़रूरत से ज़्यादा बार कर रहा है घोषणा
उदय की और अस्त की।

उसकी विस्थापित देह ठण्डी थी
लेकिन साक्ष्य उसका पैतृक कर्म है
इसलिए सबने उसे माना।

आकाश की आंख बंद थी
और देखती रही—
मरी खालें ओढ़ आवाज़ें
बेतहाशा भाग रही हैं
कि हवा छू न जाय।
निर्वसन आवाज़ें
सीली घड़ी हैं
बिना धूप सड़ी हैं।
अंधा सूरज देखता रहा
और साक्षी रहा सत्य का

कांच की बुकनी बांटती हवा को छोड़,—
सूनी सड़कों पर
जुलूसों से पिटते खंभों को छोड़—
जनहीन आंगनों को छोड़—
आंधी में हांफ रहे
गौरैया के सहमे बच्चों को छोड़—
कटे पंखों को छोड.—
टूटी पंखड़ियों को छोड़—
बाकी सब सत्यों का
साक्षी
सूरज
था।

अगस्त—सितंबर, 1967 (भट्ट आंदोलन के दमन पर)

रुंआसा सूरज

उस दिन आपने
सूखे होठों पर ज़बान फेरते
सूरज को देखा?

'वह सुबह से ही शहर के ऊपर
निहायत बेचैनी से चहल कदमी करता रहा,
एंटीनाओं से धोती का पल्ला छुड़ाता हुआ
इमारतों के कंगूरों पर खीजता हुआ
किसी उड़ती पतंग का इंतज़ार करता रहा
कि डोर के सहारे सीली गली में उतर जाए।

बेचारे को कहां मालूम था
कि पतंग उड़ाने वाले हाथों को दिया गया था
प्रसूति हस्पतालों के बाहर
घूरे के ढेरों से चिथड़े और रूई बीनने का दाय,
और झंडों तथा तोरणों से
आसमान पाटने का व्यवसाय।

उसने कहां देखा
कि नवजाये बच्चे –
रो कर फेफड़ों में ज़िंदा हवा नहीं भर रहे थे
बल्कि उड़ते झंडों पर खून और मूत्र के धब्बे पहचान कर
हंस रहे थे।

गली में उतरने में असमर्थ सूरज
रुंआसा था, आंखें मल रहा था
अलंघ्य आवाजे सुन रहा था
अभेद्य सुगंध सूंघ रहा था–
जो तोरणों से पटी
सीली गलियों से उठ रही थी।

अगस्त 91, श्रीनगर
(मुख्यमंत्री–पुत्र के शानदार राज्याभिषेक के समारोह पर)

अस्तित्व

मान लो कि
छत नहीं, फर्श नहीं, दीवार नहीं
केवल कमरे का यह कोना?

नहीं कोई मकान
या खंभों का आधार
या खंडहर का निशान कोई
फिर भी कोना
क्योंकि एक खिड़की और अपना एक दरवाज़ा।

दरवाजा खोलें तो पाए
कोई पंथ नहीं पौढ़ी नहीं
केवल एक तलहीन कुँआ,
अंधेरा है देहरी, अंधेरा जगत
हर कदम की आहट
प्रागैतिहासिक गूंज बन कर लौट आए
हर सुबह हर शाम, दोपहरी।

काली सीली दीवारों से सिर टकराए
चीख बन कर कोने में दुबक जाए
पूर्ववत।

क्या मेरा बढ़ता कदम उपलब्धि है?

मेरे कोने के शून्य के साथ
कदमों के चित्र चिपक जाते हैं
और यह भी कि
कोई मुझे जबरन गुज़ार देता है–
व्यस्त चौराहों,
खामोश जंगलों,
पुष्प मालाएं पहने लाउडस्पीकरों
आंखों में गोता लगाते युगनद्ध युगलों
और कोलाहल भरे अनाम दृश्यों के बीच......
और मेरा कोना
भूल जाता है
अपना होना।

मेरा होना, यानी यह कोना
या एक मायावी सत्य?
मैं हूं, थिर हूं, या फिर फिर हूं...
कौन जाने...
कोना तो, खैर, हूं ही नहीं।
कितना निश्चित हूं!
खुशी की बात है।

जनवरी 1968

मुठ्ठियां

मेरी बंद मुठ्ठियों से चू रहा रक्त
मत पोंछो
मत समझना
कि मिट्टी के कच्चे पाटों में ढला हूं।
लोहा फोड़ नहीं सका
पर हाथ उसी पर आज़माएं हैं–
पत्थर तोड़ नहीं सका
पर आघात उसी के खाए हैं–
मेरी भिंची मुठ्ठियों ने।
भिंची मुठ्ठियां मत खोलो
पड़ने दो इनका मांस ढीला
होने दो इनका खून पीला
यह रक्त नहीं लावा है–
जो जवान ज्वालामुखी जलाए रखते हैं–
हड्डियां अब हाथ का खा चुकीं मांस
शिराओं का सोख चुकीं रक्त
आदमखोर पेड़ के ठठ्ठरों की तरह।
हाथ
अब पीले फफोले

और नीली रेखाएं रह चुके हैं।
लेकिन
इन्हें खोल नहीं पाओगे
इनमें दबे छुपे प्रतिकार से बोल नहीं पाओगे
वह गूंगा है
क्योंकि वार्तालाप का विवेक लेकर जहां गया
प्रलापी कहलाया जा कर वहां से लौटा है।
मेरी बंद मुठ्ठियां–
नुमाइश के लिए नहीं
कि तुम लोगों को जमा करो
उन्हें रुलाओ
और बतलाओ
कि आग कैसे सील जाती है
मुठ्ठियां अस्थिपंजर होके रह जाती हैं
जिनकी कब्रों पर रंगहीन फूल खिलते हैं।
तुम चाहते हो तो
रंगहीन फूलों की लगवाते हो प्रदर्शनी
सफेद पड़े खून का करते हो उद्घाटन
कि 'विकास' और 'समृद्धि' की परिभाषाएं
निकलती रह सकें
और पहिया चलता रहे
कि कहीं देश रुक न जाए....।
पहिया
तुम्हारी कुर्सी को किसी भी दिशा में मोड़ने के लिए है
इस कुर्सी पर
तुम्हारी अपंग भारी भरकम देह को
एक उफनती बाढ़ फेंक गयी थी।
बाढ़ उतर गई
फिर पछताई
और कुलबुलाती रही है आजतक एक छीलर में

पर तुम अपंग कुर्सी पर रखे गए
एक बार के रखे
रखे ही रह गए।
तुम्हारे भार से यदि चरमरा जाय
पहिये का अर अर
''तो रुक जाएगा देश''
यह कौन याद दिलाएगा इसे समय समय पर।
"तुम्हारा भार वरदान है
गति की गारंटी है,
इसे ढोने
में ही कल्याण है।"
खोल नहीं पाओगे मेरी मुठ्ठियां
ये आदम खोर हैं
जो उसी दिन भिंच गईं
जिस दिन तुम्हारा जाल तना
किनारों पर तुम्हारी गिद्ध–आंखों ने
और केंद्र में तुम्हारी भेड़िया–जीभ ने निशाना साधा
पर मैंने वह पहचाना–
प्रपंच जो तुम्हारा प्राण है
शठता जो तुम्हारा श्वास है
ये मुठ्ठियां उन हाथों की हैं
जिन्होंने साँस बोई और कपास उगाई
जिनकी आंत से अंतिम नमी छूटी
पर जिन्होंने धागा बटा
तुम्हारे जाल का जो यह छोर है
जो तुम्हारी मर्म से बंधा डोर है
इनके मुंह में है

ये मुठ्ठियां आदम खोर हैं।

1973

रेल यात्रा

कितने हथौड़े
पीट रहे
हमारे सब्रकी धमनियां,
जिद मगर देखो हमारी–
पीटते जायं बेरोक
हों वार
और तेज
लगातार

जून, 1974

सूरजमुखियो !

स्वीकारो, सूरजमुखियो, स्वीकारो
हवा का गुदगुदाता संस्पर्श
और मुझे केवल इतना दो–
मेरे लिए
पल्लवित नमित
दो बुलाती बांहें–
सूरज का सा आमंत्रण।

जिस को जिया है
उससे हटकर मेरा अभियानी मन कुछ और जिए
कुछ अर्पित क्षण।

फैलाओ अपनी धूसरित सोंधी
बदराए धूप सी छांहें
मेरा कुछ इन में छिप दिप जाता है।

मई, 1966

बूढ़ा समय

ऐसे समय का क्या करें
बचाकर आंख जिसकी
खुद को गुज़ारा करता हूं
न जाने कहां से आ टपकता है
राहगुज़र बन घूरता है।

कई बार उसे ठुकराया है
लाठी उसकी छीन दूर फेंकी है
पर बारबार कूबड़ से झुका
प्रश्न चिह्न सा राहों में उसको पाया है।

झुर्रियों दार उसके हाथों की पकड़ से दूर
झांई वाली नज़रों से हटकर
निश्चिंत चलता रहा मैं जिस बार
लेकिन कैसे करूं अस्वीकार –
हर बार खुद को कटघरे में खड़ा
और उसे परीक्षक की मेज़ पर अड़ा
देखा गंभीर अनुदार!

जेबों में स्थितियां लिए घूमता है
ओढ़ कर सूरत शरीफों की
घटना से घटना के सिलसिलों में
उम्रों से जी रहा है
घटनाएं नहीं थी जब जन्मा था
घटनाएं नहीं होंगी
तब–
गुदड़ी सी रहा होगा
अगला जाड़ा काटने को जी रहा होगा।

अप्रैल, 1973

जुलूस का सत्य

बंधु
अब मेरा मन
लाल और पीली महक के बीच उड़ते
एक अंधे पक्षी का सा है
जो अपने पंखों को पटक पटक कर इसलिए तोड़ना चाहता है
कि 'अंधविश्वास'
महक के घनत्व में
उसे उड़ने को न उकसाएं।

मुझे बहुत एकरंगे 'सत्यों' को पालने को
प्रतिश्रुत किया गया है
और ये सत्य समूहों में
एक बड़ा प्रतिनिधि झंडा फहराते हुए
मुझ तक चले आ रहे हैं।

कहीं से आ रहा है–
एक वाचाल जुलूस,
जो मेरे कानों और जबान पर
असंख्य चित्र चिपकाता जा रहा है

बोलते तो वे चित्र हैं
मुझे होठ हिलाने होते हैं।
इन वाक–चित्रों को मैं रोज़ रोज़
अपनी नई व्याख्याओं के नाम से
चर्चित सुनता हूं
बेबस।

अब तो, बंधु!
बलिष्ठ सत्य केवल वे ही हैं
जिन की तैयार ध्वनियों पर
मेरे होठ थिरकवाए गए,
वे नहीं
जो मेरी आखों ने
शून्य में देखे,
मेरी चाम ने महसूस किए
मेरे कानों ने सुने
मेरे गानों ने गुने।

शायद वह रंग भी सत्य का नहीं
मेरी त्वचा के नीचे
जो फैला है गहरा
बनता है जिससे
मेरा चेहरा।

1969

ताज

एक विशद अभिजात स्मित

धानी कैनवेस के गहरे आयाम में उभरा
एक सिलहॅट श्वेताभ

झीने चिलमन में प्रगल्भ निर्वसना
छेनी से यहां उभरी
और उघरी कुछ और वहां

ताज
कब किससे बंधा
कौन महाजन
दे सका उधार
अकिंचन पलकों को इतना भारी सपना ?

मेरी नीची छत में कैसे समा जाय ?
फ़ाकामस्त नज़रों में
संपन्नता।

इनमें तैर तैर जाता है
सब चित्रों से अलग एक बिंब

चेहरों पर छाये तनावों से हटकर
मुस्कानों के आवर्तों में ढला
एक मुख

बरौनियों की छाज तले
फुदकते दो अनजाने पांखी
एक परिचित सुख

अप्रत्याशित कोणों में छितराए जा रहे
आशातीत मीठे बोल
शायद मेरी ही मन पाहुन बुलबुल के हैं

मैं ही गहरे आयामों वाला
खुदरंगा कैनवैस
ताज का।

फरवरी, 1972

कान्हा बहाना था

तम में शतधा
झालर प्रतिबिंबों का दमक उठा
और जागा बिंब मेरी पुतली में
अंकुराया बेहिसाब
सुदामा की आंख का वीराना था।

कान्हा को मुझ को उबारना था
'सहमी पोटरिया' का
'सरमीली कांख' का
बहाना था!

अक्टूबर 1973

बात

अगम तेरा प्यार
इत्ते रस का भार
            मेरे होठों पर धरा है।
कांप के रह जाती हैं स्वर तंत्रियां
पंख फड़फड़ा के रह जाती है
असमंजस मे अल्प विरामों की पांत।

उमिर तो लगती थी कब की गई...

संकेत भर बनने को उठे रहते हाथ
अर्थ बंद मुठ्ठियों में लौट लौट आ रहे
दर्द होने लगा ज़रा ज़रा है।

पिघलने लगी होंगी ध्वनियां तरंगो में,
तुम यह न समझना
कि मेरी बात मिताखरा है।

अक्टूबर, 1973

पैवंद कि आदमी मैं?

1. धुंध ओढ़ खड़े हैं देवदार चुप घुप
बर्फ लपेट कर चोटियां लस्त मस्त
और जंगलों के बीच खड़ा भीग रहा–
शब्द शब्द कविता चबा रहा–
मैं।

2. कागजों पर पेपरवेट धरे खामोश बैठी है मेज़,
तनी ठनी भौहों में पाइप दबाए है कुर्सी,
और आंखों की कोरों में मैला एक नोट दाबे–
याचना के बेवकूफ होठों में
खड़ा मुस्कुराता–
मैं।

3 तंग माथे को तिरछी 'कराकुली' टोपी
बख्श रही है चौड़ाई,
दोशाले के तले नग जड़ी उंगलियां
खुजला रही हैं तोंद की दाद
और असंभव आंखों सा विस्फारित–
खड़ा मैं।

4. मेज़ की दराज़ में या जेबों में पिस्तौलों
की 'धांय धाय' बंद है। घोड़े की टापों
में हवाई प्रापेलर का बादली छंद है।
और तालियों की अबूझ लहरों पर कहां
किधर ठेला जा रहा मैं।

5. चिड़ी का गुलाम कभी बादशाही ईंट से
ईंट बजाता है। बेगम के दिल को कभी
दुग्गी का हुक्म जीत लेता है। और
उंगलियों पर शर्तें बदता, पोरों में
दर्द सहता मैं।

दिसंबर, 1978

एक बच्चा गीत

अक्का बक्का धूमधड़क्का।
खूब मनाओ मेरा साल
कोई बात नहीं जो पूछा नहीं आज तक
मेरा हाल।
अक्का बक्का धूमधड़क्का।
सदियों से इन ही गलियों में रहता था
गंदी नाली के पानी संग बहता था
मुझ को बाहर खींच गये,
टांक गए आकाश में–
उजले पर कलमुंहा डिठौना।

(मेरी सालगिरह पर कोंचे
क्योंकर मेरी याद, इतनी सदियों बाद ?)

अक्का बक्का धूमधड़क्का।
खूब जमाओ मेरी वर्ष गांठ पर महफिल
भाषण दो, पिटवाओ तालियां
जय जय कार कराओ
पर मुझे उछालो मत इतना अपने हाथों पर

श्वेत कबूतर सा तेरे हाथों से जो ज़िंदा छूटूंगा
तो नभ के काले धुएं बीच
गुब्बारे सा फूटूंगा।
अक्का बक्का धूमधड़क्का।

पापा लाओगे खिलौने?
एक टैंक पर खेल रहा बंदर ,
पिछले पैरों पर खड़ा
हाथ जोड़े मुस्काता भेड़िया,
बम से खेल रहा बच्चा,
सुंदर लड़की के जूड़े में बारूद भरा,
पिटते, बोझा ढोते हब्शी, काले बौने
पापा, लाओगे ना खिलौने?
समय मुआ,
बेवक्त बड़ा मैं हुआ।
हवा का रुख भरमाया
मैं गलत जनमा।

अक्का बक्का धूमधड़क्का
इस वर्ष खूब मैं खेलूंगा
कीच सने गांवों के ऊपर
बासी नगर हवाओं पर
मौसम मापी गुब्बारों सा डोलूंगा।
कोई भी आंधी आए
बारूद गढ़ रहे पापा को न छेड़ जाए
मम्मी को ममता की याद नहीं आए
हर आंधी को अंकुर जैसे झेलूंगा
इस वर्ष खूब मैं खेलूगां।

1980, अंतर्राष्ट्रीय बाल दिवस

खोज

प्रागैतिहासिक हाथी जैसी
तहदार सुर्मई चट्टानों में
एक वहशी फूल खिला
हाथ हमारी ओर बढ़ाया
हमारा मुंह चिढ़ाया।

फिर हाथी हिला
तोड़ा हमारा केंचुल– किला
और हमको हमीं से भिड़ाया।

नहीं इस वसन्त में–
इतिहास ने–
अपने आपको केवल दोहराया।

1974

दरारें

सुदंर होते हैं पर्वत
धूप सी बर्फ की कलगियां पहने–
लेकिन काश
ऋतुएं इतनी स्वैरिनी न होतीं
और मौके बे मौके बदलना बंद न करतीं।

निठुरा है शिशिर
काश
पहाड़ों की कलगियां
बर्फ या पाले सी होतीं
बर्फ या पाले की न होतीं।

ये कलगियां जब चाहे उड़ती हैं
और जा बजा
बैठती हैं दर्रों पर
और घोंटती है गला संकरी दरारों का
जिनसे होकर मेरी सांसें आती हैं।
अब कहना पड़ रहा है
कि इन्ही दरारों से दिखें हैं मुझे

विस्तार के भ्रम
जिन्हें मैं ने प्यार किया है
मिले हैं मुझे
विशाल निजत्व के छलावे
आँखों में भरने को रंगीन क्षितिज भी
सुंदर बताने को सूर्योदय और सूर्यास्त भी
और पैदा हुई है मुझ में
कालजयी समुद्र में लहरें पकड़ने
और डूबने बहने की बच्चों–सी ललक।

पाला ही गिरता
पर चोटियों पर ही नहीं
फैलता ढक देता
दैत्याकार पहाड़ों की स्याही को,
मुझे यह भ्रम भी होता–
कि मेरी यह गुफा
अब किसी काली काई दार दीवार से घिरी नहीं
मुझे यह तो लगता कुछ देर
कि मुझे अप्रत्याशित ही
अपने सदंर्भ तथा इतिहास से आगे
फेंका गया है
खुले शून्य में–
अपनी ही गुफा के मुख पर
जहां दीवार ढोने की हड्डीतोड़ नियति नहीं
बल्कि आकाश होने की
धड़कनें होने लगती हैं।

1966

मोह

एक अक्षर के लिए तड़पता हूँ।
सांपिन सी बिजली कौध जाती है
सकते में आ जाता है सारा परिवेश
चौंध में मुझे दिख जाता है–
लंबे बाज़ुओं वाला दैत्य
मेरी राह में खड़ा है।
उसका एक बाज़ू मेरे पार होता है
मेरे पीछे की ओर जा रहा है,
उसका एक बाज़ू ऊपर उठा हुआ है
मेरे सिरपर की हवा धूप आकाश को छेदता हुआ
उसका एक और बाजू मेरे सामने पसरा हुआ है
और सामने की हरियाली को
दलदल में बदल रहा है।
यह दैत्य तब दिखता है
जब बिजली कौंधती है,
बिजली से मुझे मोह होने लगता है।
चेतना तब जगती है
जब भीतर को रौंधती है।
बादल पर उभरते हैं बिजली के अक्षर

अक्षरों की रोशनी में दैत्य का उभरा शिखर।
मेरी मुठ्ठियां तन जाती हैं
कि अबकी बार राक्षस की काटूंगा बांहें
दफन कर दूंगा
उसका भद्दा जिस्म
पर इतने में फिर होता है अंधेरा।
बिजली के अक्षरों से मुझे मोह होने लगता है
कौंधते प्रकाश से
टिमटिमातीं रोशनी से नहीं
पर अक्षर उभरते ही बुझ जाता है
और मोह दे जाता है।
अब मेरी आंखों के सामने दैत्य का आकार
रह जाता है होके केवल अंधकार
और मोह एक नया आकार बनकर
मुझ में फैल रहा है आर–पार
यह अंदर ही अंदर तोड़ता है
उदासी को उदासीनता से जोड़ता है।
अंधेरे में टोह लेते दैत्य के हाथ
क्षणांश की बिजली
बिजली के अक्षर
यह सब सत्य है
लेकिन मुझे मोहांध करता बढ़ता
दिमाग तक चढ़ता घुन!
घुनाक्षर का न्याय ?
नहीं है मुझे स्वीकार।
कि मन मोह में ऊँघे
फिर जगे नहीं
मुठ्ठियां नस नस को कसें
फिर खुलें नहीं।

1967

दूसरा जन्म

बेवजह ज़िंदगी मिली
अकारण ऐसे ही आएगी मौत
उम्र अकारण गुज़रती है
लेकिन लौट लौट आता है सांसों का उन्माद ?
सिमटा रहना चाहे मन
उठती नहीं दूर तक नज़रें
नहीं किसी भी घटना का जी
या चेहरों में आकर्षण।
पर कौन दे गया ज़िम्मेवारी
कुछ मजबूरी।
ज़िम्मेवारी कि गलियों में बह रहे शोर में
बीनूं इनकार
और स्वीकार के स्वर,
तैर रहे जो अदृश्य रंग हवा में
उनको मस्तक में लूं भर
और दिन में कई कई बार
खुद को जिलावतन कर देने की मजबूरी।
अधूरा नहीं रहे
ज़िम्मेवारी और मजबूरी का यह क्रम
शायद लेना पड़े दूसरा जन्म।

जनवरी, 1977

दिन

सुबह उगा अनमना बीच नभ के लटका पछताए दिन
पूरब छूटा, पश्चिम धुंधला, डूब कहां अब जाए दिन।

धुआं उगाए सड़कों पर और जली धूल नभ से बरसाए
गला किरण की सांस का घोंटे, धूप को ही झुठलाए दिन।

झोंपड़ की लौ की बड़री आंखे ठंडे हाथों से बुझाए
सजावटी कांचों के पीछे, जुगनू–सा सुलगाए दिन।

रस्ते हुए अपाहिज खिसके कहां मील के पत्थर हैं?
पड़ा सामने लावारिस अरथी सा कौन उठाए दिन?

उम्मीदों के चेहरों से रंग उड़ा धंस गई आंखें हैं
दोष इन बुझी नज़रों का है दर्पण लाख दिखाए दिन।

नहीं शंखध्वनि लाए ख़ुमारी, नहीं अज़ां आंखें खोले
काश ख़मोशी दो पल की मिल जाए मौन मर जाए दिन।

नयी पीढ़ी से

मुझसे वरद हाथ, न चाहो
फैला नहीं सकूंगा तुम पर
नहीं दे सकेगा तुमको छांह
नहीं हर सकेगा तेरा ताप।
वर और शाप में
मुझे खुद विकल्प नहीं मिला
तुम्हें क्या दे सकूंगा?
मेरे विकल्प का देवता
पिछले तीन दशकों में
स्वल्प मृत्यु का शिकार हुआ है।
मेरे विकल्प का जोखिम उठाने की नौबत ही नहीं आई।

मेरे युवा पितरों ने
यह जोखिम उठाया था
और आज़ादी को वरा था
फिर ठीक ही मौत को पाया था।
एक एक कर के उसके बाद
कट गए युवा हाथ, उन्नत माथ....
रह गया एक मुमूर्षु लुंज

अपाहिज मांस पुंज
पेट ही पेट या जीभ ही जीभ।
मैं कोई हाथ तुम पर रख न सकूंगा, पुत्र।
मैं वर किस हाथ से दूं?
इस विशालकाय लुंज पुंज के तले
तीन दशकों से चरमरा जो रहा हूं।
इसने मेरी बाहों की हड्डी हड्डी डाली है तोड़
हाथो की उंगली उंगली डाली है उखाड़।
ठीक है।
जनमते ही मैंने जब
जोखिम वाले हाथों की थी गाथाएं सुनीं
मेरा भी माथा हुआ था ऊंचा
मेरे हृदय ने मन से
और मन ने बाहुओं से थी गुनी।
मेरे भी हाथ उठे और कस गए थे
मेरी भी मुठ्ठियों में आ गए थे संकल्प
मेरी भी उंगलियों के संतूर झनझना उठे थे।
हाथ और मन का साथ
मूर्तियां सृजने की बेचैनी में मचल उठा था
लेकिन मिट्टी और छेनी
धातु और कलम और कूंची
कुछ भी गढ़ने के लिए
मुझे इसी सड़े लुंज पुंज को छीलना पड़ा।
फांक फांक तोड़ना पड़ा, कुरेदना उकेरना पड़ा...
इस यत्न में गंवा दी मैंने अपनी सांस।
हुआ क्या फिर?
सांचे में ढल पाया है कभी सड़ा मांस?
कहो पुत्र कौन मूर्ति तुम्हें दे दूं
कि जिसे करो नमन
कौन छाह फैला दूं कि जिसे करो वरण?

जुलाई 1974

अगस्त 1980

कपासी बादल!
कितने दिनों कांच के पीछे से लुभाते रहे।
आज रात बिन पुकारे
रोशनदान उढ़का देखकर
नीले आसमान सहित घुस आए हो
तो पड़े रहो।

सुनो
अंधेरा काजल नहीं राख है,
जिसे अपनी आंखों में झोंककर
लोग आंख मींचने का बहाना पाते हैं
कुछ देर
फिर दांए बांए दो चार चोरी नजरें मारकर
सो जाते हैं
कुछ और देर।

सुनो
रात के सन्नाटे में नौजवानों ने
अखाड़ाई शंख फूंके हैं

कि मेरी रीढ़ में त्रिशूल और फरसा बजाती हुई
कुंडलिनी झनझनाने लगी है।
पेट दोनों हाथों से थामे
मैं सहमकर कर रहा था इंतज़ार।

सुनो
रौरव से लौटे कुहरामी प्रेत
और रोज़े–कयामत के दादे
दौड़ रहे हैं सरपट
दीवारों में आग लगा रहे हैं
सीलन भरी कालिख लगी पस्त दीवारों में
जिनके आईनों में उन्हें अपने चेहरे
बदनुमा नज़र आए।

देखना
श्वेत पुती ऊंची दीवारों के सामने
वे अचरज में खड़े रहेंगे, हडबड़ाएंगें
फिर सुबह होने से पहले कब्रों में
उतर जाएंगे

लखनऊ (दंगों के बाद)

उसने समुद्र नापा

इस बड़े गरजते समुद्र की फुफकारती लहरें
उसने अपनी चौपाई में बांधीं, दोहे में साधीं।

विशाल था समुद्र
झीना पानी न्योतता था
पर बरजती थी हर गहराई
उसने दोनों को ध्वनियों में जकड़ लिया।

जब हर अनुपात तोड़कर
दानवी डैनों वाला आकाश
धरती को चांप बैठा था,
कितने साहसी थे उसके बिना रोओं वाले पंख
हर तूफान के दिल में बैठा
झंझा का हर पैंतरा भांपा
घाट पर बैठे बैठे
समुद्र का हर ठिया नापा।

उसने केवल इतना किया
हिया हिया में
एक सनाम शब्द, एक निःशब्द नाम
बो दिया।

जगह जगह उनके जो मुखड़े खिले
उन्हें दे गया एक एक दर्पण
निर्मल नीर सा,
सौम्य रूप और विवेक हंस सा
धुला मन क्षीर सा।

राम की सीता सी एक अर्थछाया
अर्थ छायाओं को जादुई आंचल में बांधती
एक गीत की माया।

तुलसी जयन्ती 1971

बर्फ हुई घाटी

बर्फ को क्या दे सकूंगा प्यार
बर्फ होना पड़ता है अरमानों को हर बार !

फड़कते हैं अंग अंग घेरे को काश सकूं तोड़
हाथ टूट गिरते हैं और जी में उठती मरोड़
हर पहार बनाता दीवार!

बर्फ लदी चोटियां हैं बुला रहे छलावे हर ओर
जड़ हुए जा रहे हैं स्वर सीला घाटी का ओर छोर
घुटी सांस अपने ही भार।

मुझे अपने से छीन रहा कोई अनजाना सा हाथ
बेमानी रेखाएं खींच रहा कोई यों ही मेरे माथ
पराई हर खिड़की हर द्‌वार।

जनवरी, 1968

एक बर्फानी कविता

मौसम जब बर्फ हो जाए
तो बर्फ खरीद लीजिए
जी हां, मैं बेच रहा हूं।
लीजिएगा, बहुत देर चलेगी
आप शरीफ आदमी हैं
धूप आपको ज़रा नहीं फलेगी।
छोड़िए जी वह बाग–तड़ाग–विराग–चिराग...
धूप समा जाती है पेड़ों में
बर्फ, टहनी की, फुनगी पर, चिनगी सी,...,...
टिकी रहेगी।
पेड़ धूप पीते हैं पीलें
आह क्यों भरें हम
जीलें बस जी लें
मां बाप ने जब हमें गढ़ा था
तो कोई हलफ नामा पढ़ा था ?

बर्फ है जी, पुर असर
कल मानो ना समझी में आपके आई उमंग
नये रंगों की उड़ाई मन ही मन कोई पंतग

कितना बचेंगे आप ?
मौसम रुकेगा तो हवा कहां जाएगी
जर्जर कंधों पे लिए भारी बर्फानी भाप।
नई बर्फ मुस्कुराके पंतग पर जमेगी

दर्द होगा ?
इसीलिए मानिए जी,
आखिरी सुगंध अगर हथेली पर फैल जाय
हथेली को भींचिए
आखिरी आवाज़ अगर होठों में गैल पाए
होठों को मीचिए।
तड़पती पतंग को लिटाइए
बर्फ की सदा जमी मुस्कुराहट
उस पर फैलाइए
देह तो गई, गई, लाश तो बचाइए।
आवाज़ों के पंख या कि पंखों की गंध ही मिटाइए।
बदला जो करती थीं
सिरफिरी उन ऋतुओं का नाम भूल जाइए।
नई जन्मी हवाओं का
नया सोचा नाम भूल जाइए।

प्रातः का भ्रमण या कि सांय की सैर हो
दूर न निकलिए
नज़रें न दूर तक उठाइए
क्षितिज ऊबड़ खाबड़ है
रस्ते उलझते हैं झाड़ों में
लहरों पर चढ़ने का भी कोई अर्थ है ?
उबलता है मन ? समेटिए,
लेटिए
बर्फ की शिलाओं से बांह खोल भेंटिए।

मरुओं पर उड़ते हैं नहीं रेत के ढूह
पर सरहदें खामोश फैल रही हैं
पथराया सन्नाटा दाबे बैठा है
हर कंपन की रूह
हर मिरग के पैर और
हर अंकुर का सिर

सूरज में पड़ी है दरार, एक बार फिर
झांकती है बीच में से आंख एक शैतानी
नही टपकेगी इससे गरिमा या उष्ण प्यार।

रेतीले आकाश में सीप वाली आंख
या सीपों की बस्ती में गड़ा आईनों का खंभा
सफेद बर्फ दोनों में दिपेगी
खुश रहेगी, दोनों से छिपेगी
जभी तो मैं बेच रहा, आपको अभी से बता दिया
अपनी दुकान का पता दिया।

यात्रा

जाने पहचाने उस नगर में
मेरी यात्रा
हो गई अजनबी।
खिड़कियां थीं दृष्टिहीन
भद्दे चौखटों में जड़ी हुई।
बहीं सड़कें पहले सरीखीं
पर मुझे उनमें तैरने नहीं दिया गया
अब की बार आई अनाम दिशाओं से
ठेलती मुझको अदृश्य लपटें।
पथों पर मैं खोजता रहा
कोई पुराना कोना,
कि गहराती अविकल भीड़ से
शायद कोई मिले
निज सा, विमुख सा ऊबा थका सा अपना।
एक दबी साध जगी बार बार
कि बनूं हर खिड़की के
पूरब से पश्चिम तक का आकाश
समा जाऊं खिड़कियों की आंखों में
कांच कढ़े सपनों सा
पल्लों पर चिपके होठों में
आर पार टकराती

सनसनाती हवा के कंपनों–सा
पल्लों से आधे ढके माथों पर
ऊंची छतों और
बाहर फैले छज्जों की छाया सा
बुझे पीले गालों पर
जमते नए सूर्यों की माया सा।

उस नगर में
आकाश केवल एक प्रतिबिंब था
आंसुओं की बूंदों में,
जिसे ढाला गया था
संस्कारों में, गुहाओं में
टोकरी में डाला गया
पेशेवर निगंधे फूलों में
कि ऊबी हुई मूर्तियों पर चढ़ाया जाय
कि वे चुपचाप पड़ी रहें
ऐतिहासिक मंदिरों में–
सम्राटों के विलासी उछाह में–
बेजान खंडहरों में।

वहां मेरा चीत्कार भरा प्रतिरोध
बसाया गया
अलंकार हीन स्वरों के उच्चार में
पवित्र गंगा के गंदले रौरव में।
वह नगर केवल यात्रियों का था
अतंहीन यात्रा का
निरंतर 'यान' से लेकर 'त्राण' तक का
जहां चलना जीना नहीं
बल्कि पैर रास्ते से सीना है
धारण तो कुछ करना नहीं
न तोष से कुछ लेना न रोष को कुछ देना
धर्म केवल घोल घोल कर पीना है।

जनवरी, 1974, इलाहाबाद

प्रतियात्रा

घूरे से भरा है नगर भीतर
एक भारी पैर रहता है तैयार हमेशा बाहर।
समय आता है तो पैर उठता है और घूरे पर पड़ता है
और व्यक्ति–व्यक्ति
अंडों से पाट कर घर
और मुस्कानों से पोत कर मुंह
यात्रा पर चल पड़ता है।

उंगली उगंली में फांस
पल्लू पल्लू में खोंस
धूल फांक
हवा गटक
अंतहीन गलियों में खो जाने की कामना जाग उठती है।

पोटरी से लटक रही पोटरियां....
कमर झुकी सोटी पर अस्थिपंजर ढोने की जिम्मेवारी...
क्षितिज दूर अंतहीन
दिशाहीन हाथ कोई
वरद मुद्रा लिए कोई दैत्य हाथ

गंगाजल सा लील रहा
बुला रहा।

खुद को दिया वचन
पीढ़ियों से चला आ रहा प्रण–
ताप पाप घोलेगा जन्मों के
यात्रा का अंतिम सियराया क्षण!

या फिर अपना ही मन
वंचना से छिपा रहा
अपना प्रतियात्रीपन?

1972, इलाहाबाद

मेरा शहर

सुबह जागता है मेरा शहर
जमुहाइयों के बीच
फिर पवित्र भोंपुओं से
सन्नाटे में खोया कुफ्र का समंदर
डालता है उलीच उलीच।

उतरता है गलियों में।

छींटा देती और बीट उगलती हुई
नालियों से
परिचय की मुस्कान बदलता है।

वे
इसके स्वागत में फैल जाती हैं
गलियों में
यह ब्राह्ममुहूर्ती चील की आंखों से
सूखी ज़मीन के चकत्ते देखता है
चुगल खोर प्रभाती चिड़िया सा फुदकता है
और ढीठ कौए सा पैर रखता जाता है

छींटों से दामन बचाता हुआ
अपनी ही गलियों में।

अपने बीचों बीच सहता है
प्राचीन किनारों में बंधी
एक शरीफ नदी की धारा
जिससे डरता हुआ
लोई ओढ़े सहमा खड़ा रहता है–
मेरा शहर
और
नए कनटोप बदलता हुआ
हर बूढ़ा घर
मंदिर मस्जिद गुरुद्वारा।

सितंबर, 1976, श्रीनगर

जम्मूः दो कविताएं

एक

'शहर ते नहर'
'नहर ते शहर'
ढक्की के नंगे कूबड़ पर
ढलती पागल दोपहर।
शहर के उस पार एक क्षितिज
सजा रहा नागफनी के खेत
नहर के उस पार
एक नदी बांट रही रेत।
ऊंचे सफेद बादलों की मूंछों पर ताव
बट्टों की मूरतों के मन में एक घाव
लुभाए दूर बहुत दूर एक आशा
पूरब के मैदानों को फांद
काश आए पुरवाई
दक्षिण को एक ही कुलाँच में फलांग
हाय बहे मलयानिल!
यही बात केवल निर्बंध।
यों कोई फूल नहीं महके
केवल सांस सांस में बसे
पूरब और दक्षिण की एक खास सुगंध।

दो

पानी मांगता है
यह प्यासा शहर
कि ताजा बारिश की बूंदों को
अपनी तपती चट्टानों पर सुखाए
और सुख पाए।
बौने टीलों पर इसने टेका है
एक ढालू आकाश
बह जाए भले उधर ही सारा पानी
बच रहेगा इधर, मगर एक संतोष,
धुंधुआई नज़रों को एक विश्राम
नभ का एक टुकड़ा धानी
कि जिसे जाड़ों में अपनी अपनी छत पर फैलाया जाय
और जिया जाय भ्रम –
अब नहीं छतें मारेंगी बू
न गलियों को खा जाएगा
सड़कें होने का ग़म...
बनेगा कहीं एक कोना
कि जहां जमे महफिल,
मुठ्ठियां मेजों पर ठुकें
कश्मीर भाग रहा समय
चुस्कियां लेने थोड़ी देर रुके।
अकल पर टंगे
मांस का एक बड़ा सा दिल।
भले ही गली गली में छपा हो 'शुभ' 'लाभ' का डिठौना
कहीं तो मिलेगा वह कोना
जहां मयस्सर होगा
खुद होना
या अनहोना।

जून 1978,

बदला मौसम

जाने लोग कैसे जान जाते हैं
कि बदला मौसम ?
अनखाते हुए पलट जाता है
कैलेंडर का पन्ना पन्ना
संख्या वही
बदलता है केवल
कोई सूचक, कोई पट
कोई घर या कोई ख़ाना।
होता है वही लाल गरम सूरज
शीत नीला पानी
और दोनों के बीच –
जिधर–मोड़–दें–उधर लताएं।
पर मौसम जो एक बार छप जाता है, बदल सकता है ?
हो सकता है
कभी ऊष्ण और कभी नम ?

ठीक ही है।
उंगलियों पर उग आया करते थे कभी
महसूसने के रोंए।
घिस गए होंगे।

छवियां पकड़ने की इन आंखों में
होती थी चिप–चिप ताज़ा कालिख।
अब पारदर्शी नहीं होगी।

रोंए नहीं रहे
अब जाने कैसे क्या अपनाए हैं
लोगों ने उद्यम
पहचानने के
कि बदला मौसम।

1980

नवंबर के छः परस

एक) हर दिशा से फूट, आते पास
पार होते
चुंबन
चुभन के।
पारदर्शी मैं
निरुपाय।

दो) ठुंसी परत पर परत
दिगंबर आइसबर्ग : हवा
ठिल रही,
कैसे रोके
बिल्लौरी फर्श पर शीशों के कदम।

तीन.) झड़े लाल पत्तों की ढेरी तले
तड़ तड़
टूट रही
क्या नवंबर की कसमसाती
पगी देह ?

चार.) दीठ के रंग जाते कगार,
दूर से आए
थके आकाशी डाकिए की कोख से
उझकेगा ही
कोई हल्दिया किनारे वाला पत्र।
जाने मुझे मिलेगा भी ?
पसर जाता है सांस का पल्लू
कुछ पंक्तियां तो फेंक जाएगा।

पांच.) मेरे हवा – बंद कमरे का गर्म फर्श।
कालीन पर कढ़े फूल के भीतर
लहराते हैं नर्म रोंए।
वाह!
कैद मैं ने कर लिया
'टकराता फिरता पवमान'

छः) नहीं मेरे द्वीप पर डाल दे लंगर
सुबह की धूप : बासी सेब,
उष्ण पांखों की उड़ने की हिचक : कलरव नाद।
लिहाफ के गर्म आयामों में मुझे दे रहा प्रवचन–
अतियथार्थवाद।

गुलमर्ग, 1979.

वसन्त-1

जब शाखाएं खिली नहीं बहुत देर
पेड़ बना रहा ठूंठ
तो पास जमी कीचड़ ने जो भांपा
उसका अंतस्तल कांपा—
टेढ़ी मेढ़ी टहनियां हैं नमी खोर
भद्दी बूढ़ी है सिकुड़न वाली छाल
मन में इसके बसा है चोर—
पैर तले की कीचड़ को सुखाने की है गर्ज़
इसलिए कुछ वर्ष
पेड़ पत्तियां नहीं उगाएगा।
हिया कांपा कीच का
वह सरक सरक कर फैली
पेड़ की छाया से दूर खिली
खुशी में दौड़ दौड़ कर फूला उसका दम।
जैसे मिट्टी के नीचे दबा तार सुलग उठे
खोज खोज कर बढ़े—
कहां बो गया है कोई
वासंती बम।

1971

वसन्त-2

लाल नशीले नभ का फैलाव
नहीं सह सका, धानी
बंधे पोखर का पानी
निर्मूल हरीतिमा ओढ़कर पड़ा रहा
और यों
वसंत की विस्फोटक चौंध से
बचता हुआ
सड़ा रहा।

1980.

वसंत-3

वसंत आया है, मानना पड़ेगा
मेरे कमरे का भारी दरवाज़ा
जो शिशिर में भां–भां बोलता रहा
चौखट में पूरा नहीं बैठा
अब झूलने लगा है कब्ज़ों पर
हवा की आहट से ही खुल पड़ता है–
हवा के आने से पहले।
सुबह मेरी पलकें अंधेरा छोड़ दें
इससे पहले ही रोशनी आ चुकती है

दीवार का हर छेद मुंह बा कर
आकाश को टुकड़े टुकड़े बांटता है।
आकाश को कभी मैंने माना था एक
और ली थीं नज़रें सेंक।

दरारें पाटने को चिपकाए थे मैंने अखबार
पुराने पढ़े अखबार
मुड़े सुड़े अखबार
अब वसंती हवा में सरसराते हैं

उखड़ गिरने को फड़फड़ाते हैं।
इनको भी चुभते होंगे बासी समाचार।
छपी पंक्तिंया एक एक कर उखड़ आती हैं
और मुझ पर गिरती हैं आड़ी तिरछी
हंसती हैं मुंह बिसूरती हैं
और मुझको चुभती हैं–
नए मौसम में
पुरानी खबरें।

इनसे बचने को
आंख मिचौनी, कभी हंसी का आयोजन
करता हूं कभी।
भीतर कमरे में खबरों के तीर सहता हूं
और बाहरी वसंत के गीत गाता हूं।

1980

जनवरी 1978 में ये तीन कविताएं मेरा वक्तव्य थीं

एक

दोस्त!
यहां से आते जाते
इतना कर जाओ
बुझते अंगारों को जैसे लोहे से
मुझे थोड़ा कुरेद जाओ
कुछ और जी लूंगा।

भूल एक नशा है
उसी में डूब जाता हूं
जब खुद से ऊब जाता हूं।

दोस्त!
कहीं कोई घटना नहीं घटती ?
कुछ तो सुना जाओ
मैं मन ही मन उसे बुन लूंगा
बार बार फिर
चक्रवातों में पड़े तिनकों सा
आसमानों पर डोलूंगा
कुछ देर जी लूंगा।

रोशनी की उम्मीद में
कुहरे को पलकों से झाड़ने की
केंचुआ कोशिश कर रहा हूं
पलकें गल गयीं
तो धूप देख सकूंगा ?

तुम अपनी धूप के साक्षी होगे
वे अपनी
मेरी धूप किस लिए कुहरा बेधेगी
किसके लिए ?

दो

बिछुड़े बंधुओ।
तुम्हारा दोषी मैं हूं
मैं ने समय पर तुम्हें जीवन नहीं दिया
तुम होठों के तट आए
करते रहे इंतज़ार
पर मेरी भौहों के बल देखकर सकुच गए
मेरी अन्यमनस्क आंख देखकर सिमट गए।

तुम सदा हो
मेरी सोच के साथ हो
मेरे कथ्य की सांस हो
मेरी बात की सकत हो
मेरे बिंब का नाम हो।
तुम्हें तुम्हारा रूप न दे पाया
पर मेरे हर रूप में तुम झांकते हो।

तुम्हारी बात का दर्द गहरा था
क्योंकि यह जो एक चेहरा था
उसके साक्षी सिर्फ तुम थे
आओ, बंधुओ, आओ!

तीन

चलो नहीं दोहराता यह 'पश्चिमी मुहावरा'
कि 'ज़िदंगी अभिशाप है'
पर यह तो कहूंगा ही
कि ज़िदंगी अति संवेदक सुई से खिंचा
एक अस्थिर ग्राफ है।
यह सुई खुद अपनी धड़कनों से
चंचल हो उठती है
फिर इसकी ज़िद है कि
तूफानी समुद्र की करनी है माप।
सुई तोड़ कर फ्रेम से आएगी बाहर
ग्राफ हवा में खिंचता रहेगा
और तुम हंसोगे कि मैं
मिट्टी के रंग–रोग नहीं पहचानता
समुद्र तूफानी ही रहेगा
मिट्टी भी लावे से तपी रहेगी
इतना जानता हूं
पर चूंकि तुम मौसम की अचानक
अननुमित तब्दीलियां रोक नहीं सकते
मैं ज़िदंगी को कैसे करूं नियमित ?
हवा में ही सही, कल्पना फबेगी मेरी
हवा में ही सही, मुट्ठियां कसेंगी मेरी
आंकड़े उबरें मेरे
तार बंधेंगे मेरे
झूले पड़ेंगे मेरे
तुम को हवा की माप करनी ही पड़ेगी।

प्राइवेट तुकबंदी

इतना आप को भी मालूम होगा
कि शैतान है समुद्र खामोश
जवान हवा के नथुनों में ठूसंता है खारी नसवार
आंकड़ों की सूखी ज़मीन पर कसैली फुहार
डालकर मुस्काता है समुद्र खामोश

पर इतना आप को बता दूं
कि समुद्र के बीच है मीठे पानी की एक ज़िद्दी झील
जो मेरा घर है
शैतानी मुस्कान के भंवरों में घिरी एक बौखलाहट
जो मेरा घर है
बैखलाई है वह जो भीतर रह कर मिठास संजोती है
बौखलाया हूं मैं जो बाहर रहकर खारी खुशबू सूंघता हूं
अनजाने में वह मेरे माथे पर लगी खारी परत चाटती है
अनचाहे यों प्यार की कोई दरार पाटती है
फिर जब सपने में रोने गलती है
तो मैं झट उसे जगाता हूं
और यों अपने महान भविष्य पर से अभिशाप भगाता हूं।

हर रात निठुरता से उसकी पलकों तले फव्वारे बोता हूं
हर सुबह ममता से उसकी आंखों में आई कीचड़ धोता हूं।

हमारे दो बच्चे हैं और बस
लूटा है मैंने यों अपने हिस्से का जस।

हम इस की चार दीवारें थामे खड़े रहते हैं
इसलिए इसे हम अपना घर कहते हैं।

ऊपर से छत उड़ जाती है
दीवार थामना कैसे छोड़ें
बेहतर है कि हवा–धूप सहते हैं।
यह आंधी का जोर
यह खारे मीठे पानियों का शोर
आपको नहीं लगता है?
माफ कीजिए
आपका शरीर थुलथुल है, मांस बड़ा कोमल है
पर आप की त्वचा में
रोंया नहीं उगता है।

1981

पेड़

पेड़ फलते झड़ते हैं चुपचाप
पर जब ये फूलों के भोंपुओं से बोलते हैं
तो हमारे हाथ तालीमुद्रा में उठते हैं।
और पेड़ पेड़ नहीं रहते।

जागता है लोगों का कवित्व
(पागलपन सब में है थोड़ा थोड़ा)
नुक चुक
सबकी जुड़ती है तुक बेतुक।
'फूल'
किसी का बन जाता है 'दुकूल'
जिसे ओढ़कर वह बौना ज़मीन से फुदक कर
ऊंची से ऊंची डाली पर जा बैठता है।
कोई 'बेनाम दास'
उपसर्गों का फेर बदल करवा कर
'प्रत्यय स्वामी' बन जाता है–
'प्रतिकूल' से 'अनुकूल'...
और न मिले जिसकी कोई तुक
बना फूल का छाता

कैसी भी हो बारिश
हर बार साफ बच जाता।

कुछ लोग सींचते मूल
और जाते हैं भूल
कि जब फूल बनेंगे फल
समय टल चुका होगा
जाने कहां से कहां पेड़ चल चुका होगा।

1982

नदियां

खेतों खलिहानों को इशारा नहीं करतीं
अब नदियां
ग्लेशियरों हिमखंडों के गाकर रह जाती हैं गीत।
हरियाली इन की आंखों में नहीं दिपती
चोटियां इनकी तनी भौहों में उभरती हैं।
नहीं झलकती इनमें दूब की मुस्कुराहट
बल्कि जंगली पेड़ों का
विशालकाय रोब।
उफनता है इनमें बाढ़ का प्रकोप
किनारों से कंधे सटाए दोस्ती का अभिनय
तथा पैरों तले की मिट्टी का क्षय।

परती पर फैला जाती हैं केवल व्यंग्य की मुस्कान
और सूखे का दुर्भाग्य
हमारे पूर्वकर्मों से जोड़ती हैं।
ज़िंदगी के भावी उपक्रम को
डुबोता है इनका
मोह बंधे विगत से लाया गया
हिमयुगीन श्मशान!

यों
इनका आवेश वादा करता है बार बार
हमें
भवसागरी आतंक से ले जाएगा पार।

फिर कभी अनायास
करेंगी आगे बहने से इनकार।
कि लौटेंगी स्रोत को
किसी आदिम 'जोत' को!

1982

पहाड़

भोगो अब भोगो,
लोगो !
पहले तो दिए पहाड़ों को पंख
कि भार तुम्हारा ढोलें
धरती को उबारने से पहले खुद उबरें
गरुड़ हों
ऊंचे और ऊंचे होलें।
उभरे ज़रूर ये पर ऐसे–
अपना इतिहास गढ़ा
उसे अपनी सफेद टोपी पर कढ़ा
मुख पर भविष्यवक्ता मुस्कान फैलाई
और भरी भारी भरकम काया
और भू को खूब दबोचा।

और थे वे भोले पहाड़
जिन्हें इंद्र ने पंख दिए,
खुद लिए उखाड़!
तुमसे कैसे होगा, लोगो
भोगो अब भोगो!

टोपी
जिससे इन्होंने ली,
खुद नंगे सिर था घूमा
मुस्काना
इनको जिसने सिखलाया
होठों से उसने रिसते नासूरों को था चूमा।

पंख
उसने भी
तुमसे लिए थे
हवाएं और दिशाएं भरकर लेकिन
लौटा तुम को दिए थे।
उसके पैर बड़े थे—
पैर, जिनमें बड़ी बिवाइयां पड़ी थीं—
बिवाइयां, जिनमें आंधियां बजा करतीं—
आँधियाँ, जो तुम्हारी सांसो में रुंधी होतीं—
साँसें, जो गिरवी पड़ी थीं।
इनके पैर ज़मीं में गड़े हैं स्थिर
पर हाथ बड़े लंबे हैं—
जो सांस लेते कंकालों की टोह में
बाज़ों—से उड़ते हैं
गिद्धों—से झपटते हैं।

इन पहाड़ों ने पंख सजाकर रखे हैं
जिन्हें तुम मुड़ मुड़ कर देखो
मन ही मन उन पर चढ़ो
और सोच सोच में चाहे जितना उड़ो।

इन पंखों को तुम कहां तोड़ोगे
अनजाने में दिए वचन से

कैसे मुख मोड़ोगे, लोगो,
अब भोगो!

याद है ?
'भवसागर' में किसने पहली बार तुम्हें था बोड़ा ?
तैरने के हाथ पैर तुम्हारे बांधे
और तुम्हें तीर्थों से था जोड़ा
(कथा–कड़ियों से)
तीर्थ सजाया तुम्हारे मन में
तीर्थ बजाया तुम्हारे मन में।
यही तीर्थ का नया संस्करण
आज खूब खपता है।–
जब पहाड़ के माथे पर छपता है।

तब टोपी का मामूलीपन बन जाता है गरिमा
और दाग़ लगते ही
या लगने से पहले ही
श्वेत प्रभा में धुल जाता है ;
सोखा हुआ खून
मुस्कान में नहीं झलकता ;

लंबे हाथ
रक्तक्षय या पीलिया के रोगियों को
सिंदूर से सजाते हैं
मरणांकाक्षी क्षीणकाय जीभों को
चरणामृत पिलाते हैं।
इन पहाड़ी तीर्थों पर
भर्राये मन सुबुकते रहते हैं
जब पहाड़ हंसते हैं
तुम्हारे गाल गीले
और भाल झुके रहते हैं।

लौह पट्टियों में कसे तुम्हारे घुटने
जहां सिजदे करते हैं
वहीं से शुरू करते हैं अभियान में
तुम्हारे दिए पंख
पंख पहाड़ों के !

तुम्हारे पांच सिजदों से बनती है
इनकी पांच वर्ष फैली कनात
तुम्हारी बटी पंचवर्षी ड़ोर पर
इनकी पांच पीढ़ियां
चढ़ती हैं आसमान।
और तुम चकित सांस रोककर
और आखिर राहत पाकर
बजाते हो ताली
कि कैसे तुम्हारी रस्सियां
तुम्हें बनी सांप
और उन्हें सीढ़ियां।

इनके इतिहास ने औरों की मौतों का लिया श्रेय
और तुम अभिभूत हो गए।
तुम्हारा कोई इतिहास नहीं
तुम्हारे केवल बाज़ू हैं और हाथ, लोगो
दफ़न होना चट्टानों के नीचे क्या तुम्हें प्रेय ?
जीते जी ढोना अपनी मुर्दा चाहों का इतिहास—
संभव खून की असंभव लाश
जीते जी अश्मित होने का दर्द, नहीं तो
भोगो, भोगो।

1982

समर्पण

उन्हें
प्राण छूट गए जिनसे
लेकिन विवश तूफान लिए जो मठ्ठियां कसी ही रहीं
उन बाहों को
जिनकी उड़ने की क्षमता पर
वज्र गिरे और वे टूट गईं
उन कदमों को
जो किसी अबूझ भार से टूट रहे हों
उन आवाज़ों को
चीखें बन कर जीते रहना ही
जिनकी नियति है–

आग हमेशा धधके ही यह नहीं जरूरी
कहीं राख में चिनगारी सुलगा ही करती है
लेकिन नभ को छूने को जिसने ऊपर हाथ उठाए
उसे अपाहिज कहकर दुनिया बैसाखी देती है
नयी दृष्टि पाने जिसने भी अपनी खिड़की खोली
अंधी दीवार सामने उसके उठाई गई
द्वार सलाखों के दीवारें तपते लोहे की

कीलें अंग अंग पर होठों पर मुहरें
उसके घावों की एक दवा सुलभ है—
प्रवचन, भाषण, वादे शोर निरर्थक आवाज़ें...

सील जाते हैं उसके अरमान
और दुनिया को रहता इंतज़ार
कि उसे मसीहा घोषित कर दे।
लेकिन जो टूटता रहा
और मसीहा नहीं बना
मेरा गीत उसे समर्पित है।

सितंबर 1967

अस्सी की आखिरी कविता

देर रात तक रेडियो
भिनभिनाता रहा इंटरव्यू–
शहराती छाबड़ी फरोशों के
देहाती रेहड़ी–ब–दोशों के
और कस्बाई नकाब पोशों के–
तुम्हारी फटी, थैली में कितना बुरादा है ?
अब नये साल क्या इरादा है ?

दादी ने सुख की सांस ली
कि कुछ खास होगी यह रात
उनकी अनिद्रा को
रेडियो का मिला साथ
वे आराम से खांस लीं।

मैं आंखों पर नींद जमाने की कोशिश में
उपन्यास पढ़ता हूं।
पर तीसरी आंख के हैं अपने प्यारे द्वंद्व ?
पटवारी, किरासीन और भत्ते के जुड़ रहे छंद।

गांरटीड नाक वाला है पटवारी।
किरासीन डीलर की अबूझ है भौंह।
आकाशवाणी के कार्यक्रमों का निकलने लगा अर्थ है,
अतिरिक्त भत्ते का एलान मगर शर्त है।

हर शर्त की होती है अखेटक मुद्रा
जो चांप लेती है मेरी रिकेटी हड्डियां,
मेरा अविश्वस्त रक्त चाप
छुड़ाता है किस्म किस्म की तुकें
किस्म किस्म के पटाखे अनाप शनाप...

आधी रात तक मेरी नसों में दौड़ता है
और पलकों को गोड़ता है
जीभ को नाथ कर
देता है गवाही—
कि सालों की आवाजाही में
मैं अपने आंगन की
दीवार पर सवार (सफर करता) रहा
कि जिस दीवार का ठेकेदार
किसी तंग माथे और खुले जबड़े वाले के
दांतो में दांत डालकर हंसता रहा।

आधी रात तक रेडियो बोलता है
फिर नया साल शुरू होता है
और मैं सो जाता हूं।

31 दिसंबर 1980

देश

देश !
तुम्हें कालिदास ने हिमालय से नापा था
मैं कहां से शुरू करूं ?

शायद हिमालय से ?
पर वह सागर से फूटा
जब सुहागन पृथ्वी का तन मन कांपा था।

तो फिर सागर से ?
जिसने तुझे भाई अफ्रीका से अलगाया

या अफ्रीका से ?
जो इतना नया है कि सदियों बुझा रहा
पर मेरे लिए अपनी दक्षिणी नोक पर
मुक्ति का शोला सुलगाया।

मैं तुम्हें कहां से शुरू करूं ?
उन ऋचाओं पर उड़ान भरूं
जो यायावर उजबेकों ने छोड़ी थीं

और गंगा तट पर भीष्म ने
तीरों की तरह ओढ़ी थीं।

या कि जायसी की भाषा से डरूं
अर्थ के फव्वारों का चेहरा छीन लूं
सिर्फ उन धाराओं को बीन लूं
जो बहें मेरी भागीरथी शंखध्वनि के पीछे
'अखरावट' का आखर आखर ढहा दें
'शिवाबावनी' की क्यारी क्यारी सींचें ?

देश !
खुद को समेटने के लिए
युद्धों पर युद्ध तुमने लड़े
पर अर्जुन और किरात का निर्णय
लालकिले और सिंहगढ़ का फैसला
मुझ पर क्यों छोड़ दिया ?

मैं क्या जुटाऊं हौसला
तुम्हें' समझने की धुन में तो
मैंने खुद को खुद से तोड़ दिया।

मार्च' 84

हमसफ़र

पूरी सीट पर फैल जाओ
डरो नहीं मेरे हमसफ़र
मैं खड़े खड़े सफ़र करूंगा।
घबराओ नहीं कि सफ़र लंबा है
और पटरियां क्षितिज पर भी नहीं मिलतीं।
बेनींद करवटें मत बदलो
सुनो,
तुमने यदि निरभ्र आकाश से पानी का नाता जोड़ा है
मैंने भी हवा को कवच की तरह ओढ़ा है
यदि तुम पुरउम्मीद नहीं
तो मैं भी कहां सुरक्षित हूं ?

किसी शहर की रोशनियां आ रही हैं, हमसफ़र
अब तुम खिड़की खोल सकते हो।
लेकिन हम अंधियारे खेतों को क्यों कोसें ?
इनको कोई टूटा ही सपना दें
तुम्हारी निराशा और मेरी असुरक्षा के बीच का कचरा
इनमें दफ़ना दें
शायद अगली फ़सल रोशन उग आए

और अंधेरा चीरने का सुख
तुम्हारी तपती बंद मुठ्ठियों को
बर्फ की तरह पिघला दे
और मेरी ठंडी हथेलियों पर
नक्शे की तरह बिखेर दे
और दुख
हमारी यात्रा के पैरों में कुछ देर बजे
थके और चुक जाय।

आंख क्यों बचा रहे हो, हमसफ़र ?
इनकी भाषा
सूखी और तलख़ बना रहे हो।
भारी मन से भाप पोंछ डालो
यह खून को सर्द करेगा
फिर मुंह में मां का दूध
गवाही नहीं देगा
और न आंख में बबेसी का आंसू
दर्द करेगा।

अक्टूबर 1986

रंग

उस दिन छोटे हाथों से
सतरंगी तितली को पकड़ना चाहा था
तो मुश्किल समझ में आई थी
बिना तैयारी आसमान को थाहा था
और पाया था
कि तितली रंगों में रंग उलझा रही है
हवाओं में हवाएं

अब जो मैं बड़ा हो गया हूं
और बाहें छोटी हो गई हैं
देख रहा हूं
हवा कटी पतंग सी टहनी में अटकी है
रंग दिशाहीन झण्डों से उड़ रहे हैं
झण्डे खूंटियां हैं
खूंटियां दलदलों में गड़ी है
थकी तितली जाने कब से पड़ी है।
खुरदुरे हैं हाथ
कैसे तितली को हवाओं में बहाएं
कि फिर उलझें रंगों में रंग
और हवाओं में हवाएं।

अप्रैल 1989

चिड़िया

आंच सील गई है
सड़कों पर आग बहे दिशाहीन
झुलसे फूल कोयलापन पर इतराते हैं
और घोंसले की चिड़िया से हम नाराज बैठे हैं
कि गीत नहीं गाती।

मोटी खाल से आत्मा को ढांक कर
हम बेख़ौफ़ सो रहे हैं
और सपने में शिकायत देखते हैं
कि चिड़िया की चोंच की चोट
हम तक आकर थक क्यों जाती है
चुक क्यों जाती है।

पंजों की खरोंच का
छिलके को हो इंतजार
और खोल दे अंतस के द्वार
तो चोंच का प्रहार
गुठली छूने से पहले
रस से भीग जाता है।
आत्मा तो आत्मा
शरीर सीज जाता है।

मार्च 1984

तमाशा

तार पर बैठे कौओं की जीभों में
खुजली होती है–
काश वह छोटी मछलियां
उनकी चोंचों में पंख फड़फड़ाएं
जो मछुए के जाल के बीच से
निकल भाग जाती हैं।
मछलियां सिरफिरी हो गई हैं
और मछुए के तन बदन में खुजली होती है
लेकिन खुजली जिन्हें नहीं होती
पुल पर मसूढ़े चभाते लोग
हवा रोके खड़े हैं।
नदी का पानी दुखी है
कि भाप बनती गर्म हवाएं
कहीं जाकर बास बो देतीं
पर किस पुल से गुज़रें ?
कौन है ऐसा पुल जो तमाशाई नहीं है
कौन है ऐसा तमाशा जो सम्मोहित नहीं करता ?
तमाशाइयों को बांध रखने की आदत
जिसने पाई नहीं है।

जनवरी1984

केसर

ज़मीन की प्रागैतिहासिक लहरों पर
जब बैंगनी पराग लोटने लगता है
तो रंगलोभी भौंरे क्या टोहते हैं
और रक्तबीज कांटों को पराग से ढक देते हैं—
कि कोई अयाचित गवाही न रहे
कि केसरिया फूल का अर्थ करते करते
कितनी नस्लों की ज़बानें ऐंठ गईं
फसलें काटने वाले हाथों को
ज़ंग लगे आयुध, लोहू से धो धोकर
ज़िंदा करने पड़े।
किस दिशा से किस गिरोह की छाया आई
सब कुछ को लीलती
उनकी उंगलियों को सांचों में कसती
पैरों में बोड़ियां डालती।
भौंरों के विनोद पर नहीं जाना
फसलों के नित नए मौसम को, ये
मारते हैं विस्मरण का डंक
और विविधता सजी एकता का
एलान करते हैं।

अक्टूबर 1984

संस्कृति : एक गोल नदी

एक लगातार गोल नदी हरहराती
हममें आकर रुकते रुकते बहती है।
हम उसके थके हाथ पांव सहलाते हैं
मेंहदी महावर लगाकर घर दीवार पर
छापा लगाते हैं
दरवाज़े आंगन में मंडोली रचाकर उसे बहलाते हैं
कि आतताई के पंजे से वह बचे तो हम बचें।
हम नदी की गरज को
स्वर तंत्रियों में भर लेते हैं
कि त्यौहार के दिन
तन खुशियों में थिरके, मन कोई मंगल रचे।
नदी के अनाम पानियों से हम चौका बासन लीपते हैं
कंगूरे पर फूलपत्ती और कोने में कलश धरते हैं
कथाएं जो सदियों से जानते हैं
बातें जो करते जीवन बीता
बिना ऊबे करते हैं—
कि रात रात भर रहे जगावा
व्यापे न आतताई का कोई छलावा
रिसा न ले जाए नदी बीच ही से
सोख न ले जाए वह गरज और पानी।

लगातार गोल नदी का प्रवाह
जिसको रोका करते हैं हम मन में
और मन को प्राणों में दौड़ाया करते हैं।

जुलाई 1984

ग़ज़लें

1.

भाषा में गूंगे सपनों की छाया देख।
बुझी आग की धुएं में लिखी भाषा देख।

शैतान आंख को सहन नहीं है तेरा नभ
इस आंख में चुभी तेरी हवा और धरा देख।

मेरा दर्पण किरचियां हुआ तो तुम उभरे
अब मेरा चेहरा छीन या कि सिर जुदा देख।

बीजों के दिल में ही वसंत नहीं बोया
माथों पर लिख शरद सोच में जाड़ा देख।

मौसम की ठिठुरन को अपने तन से सह
ढलते सायों के रंग सोच सन्नाटा देख।

अनुबंधित हैं बोल शहर के जबां सिली
बोल गुफा से फिर हर जंगल चर्चा देख।

अक्टूबर 83

2

आंधी धूप हवा से लड़ सकती न जड़ें
शाखाओं की किस्मत पढ़ सकती न जड़ें।

नमी सोखकर फूल रही है ट्टानें
सिमटी अपने भीतर बढ़ सकती न जड़ें।

कोमल, मर्मस्थल धरती का जानें, पर
'मूड' आसमानों का पढ़ सकती न जड़ें।

आंखे खुलीं नज़र आए पर अंधियारा
मटमैले सपनों से लड़ सकती न जड़ें।

अनजान बिसूरे मुंह पहचाने नहीं ज़रा
इतिहास बढ़े ऐसे तो अड़ सकती न जड़ें।

पहले किले उठाओ फिर उनपर नींवें
तेरी दीवारों पर चढ़ सकती न जड़ें।

सितंबर '84

3

छाल उतारी निपत सफेदे हो गए।
आधी कथा शरद की कहकर सो गए।

रंग वही बदले कुदरत ने पहले–से
वाक़ियात अनहोने कैसे हो गए।

नए सरोवर, आदिम दैत्य पहाड़ों की
परछांई सुर्मई दूध ज्यों बिलो गए।

मेरी सुगंधि--चेतना उड़कर हवा हुई
कैसे फूल मेरी माला में पिरो गए।

बाहर से भीतर जाने का मोह बढ़ा
जड़ें खोजने चले, कीच में खो गए।

अंतस तक वे ज़ंजीरों में जकड़े थे
खुश थे मगर तीर्थ में केंचुल धो गए।

नवंबर 1979

4

सदियों चिनार मौसम की तरह झरे होंगे।
जीने की धुन में हर बरस मरे होंगे।

बहरहाल तलवारें ठिठक गई होंगी
घावों की पीड़ा से कलम भरे होंगे?

आसमान वहशी ऊसर से पूछेगा
तूने मेरे हिमनद साफ चरे होंगे।

फूल नहीं खिलते अब दरके मगर जमीन
दबे पांव वे आज इधर गुज़रे होंगे।

नभ में मंडराते गिद्धों की छाया में
जीने वाले कितनी बार मरे होंगे।

किसी आग में मेरे प्राणों को परखो
सदियों का सोना हैं, सदा खरे होंगे।

मिटाओ मुझे पर छाले साक्षी होंगे
बर्फ के जिगर पर हर सू उभरे होंगे।

चिर वसंत का सपना जीने वालों ने
क्या सोचा होगा जब प्राण झरे होंगे।

दिसंबर'86

5

कैसा अंधड़ चला बुझा दिन
धुंआ धुंआ सी शाम हुई।।
पंछी नीड़ों में ले आए
साथ उदासी, शाम हुई।।

गिरे हौसले, आग कहकहों
की कूलों पर फैल गई
खोज रही खाली सीपों के
जाम रुआंसी शाम हुई।।

अब क्या कहें कि रात अधेरे
कौन लूट कर चला गया
अपने हाथों कत्ल हुआ काफिला
जहां ही शाम हुई।।

सूर्य दाग़ भर, हवा कटे डैने
रोशनी फटी सूप
इन खबरों की रोज़ जुगाली
करती बासी शाम हुई।।

मार्च '87

आज सुबह अबाबील

आज सुबह आसमान अबाबीलों से ढक गया
और खामोशी सुबुकती रही,
आज सुबह मेरा कमरा
दीवारों को पार कर गया
और खुले में निढाल हंसता रहा
आज सुबह शरद का खुला आकाश
शोर के काले चकत्तों में कस गया
आज सुबह मेरी अंधी दीवारें
रंगों के पार तक खुल गईं
और शून्य में लटकती छत
तालियां बजाती रही।
आज सुबह ऊंचे पेड़ों की फुनगियों पर
अबाबीलों की 'टिरिव टिरिव' जगह जगह खिल गई
और मेरे मन में उतरने से मुकरती रही।
आज सुबह मेरे कमरे से धूप को
छींटा छींटा उड़ा ले गई चोंच में अबाबील!
रात भर मैं भीड़ को कुहनियों से धकेलता रहा
आज सुबह मेरे सिरहाने में
सब तरह की आवाज़ें
दफ़न हो गईं।

सितंबर

बुलबुल

बेरंग सुबह ने रोज़ की तरह मुंह बाया
सामने का हरियर पहाड़
अंधेरा ओढ़ सोया पड़ा रहा,
दूर चमकती चोटी
टुकुर टुकुर देखती रही
पर मेरी दीवार में फूटा एक अंकुर
बुलबुल उस पर झूली
मैं ने थकी आंखें उठालीं
आज ज़रूर आएंगे पिताजी
और सुनाएंगे मां की शिकायत——
कब से खबर नहीं ली !
बुलबुल जो बोली
तो पत्नी ने खिड़की खोली
बुलबुल को मनुहार से ताका
और मुझे सुनाया
'तुम भी रूठोगे बच्चों से
नहीं लिखोगे चिट्ठी ?
नहीं भरोगे मेरे सूनेपन की झोली ?'
बुलबुल झूलती रही
अंकुर झुलाता रहा।

सितंबर '86

शरद में 'शीन पिपिन्य्'

टूटे छूटे पत्तो !
आओ, शाख पर लग जाओ
चिनार की बीती गर्माहट को हवा दो
सुनो
शरद के शोलो !

अब जो यह आप्रवासी पंछिन
एक मौसम पहले ही आई है
शर्मिंदा सी छिपी छिपी गुहारती फिर रही है —
ओ रे शीना* ! ओ रे भैया!
दुत्कारो नहीं 'शीन पिपिन्य्' को
इसे अपने अपने छज्जों की शरण दो।

इसने भी मार खाई है
बे भरोसा मौसमों की भूलभुलैया में
इसके माथे की लकीरें भी
रास्ता भटक गई हैं
इसे आश्वासन दो
बोले, जो भी बोले
और पीली पड़ रही धूप में

शबनम और पाला सुखाने की सकत घोले!
इसके 'शीन भैया' को आना ही है, आए
और शाखाओं पर सफेद फुंदने सजाए
शायद आगामी मौसम चुपचाप
चिनार के अंदर ही अंदर ढले
और पीली घूप का तुर्रा बांध
वह बहार को ब्याहने चले।

दिसंबर, 1988

* शीन = 'बर्फ' (कश्मीरी में पुंलिंग है)

पिपिन्य्= पिपहरी चिड़िया

आपबीती

धूप अब चुभती नहीं
हरियाली खुभती नहीं

छुअन का दर्द जान नहीं रहा चाम है
पतझड़ का हवा में तैर रहा नाम है।

फूल रहा बीजों का डेला
पराग उड़ा धूलों का रेला

आंखों पर क्यों न जाला छाया होगा
अब शहर में पतझड़ आया होगा।

निपत्ते का द्वार कौन खड़काए
सूखी नसों में हृदय कौन धड़काए

मन की नदी रेतों में रीती होगी
पतझड़ की शुरू आपबीती होगी

जून'89

कटने से पहले

कटने की पूर्व संध्या
सुनहरी बालियां खोल
मदमाती धान ने हवा के निषेधी रस्से तोड़े
और लहराई
पेशेवर बादलों ने आंखे तरेर कर डांटा
बूढ़े झींगुर ने बरसात से पहले ही
गले में पतझड़ी हवा भरी और गुस्सा छांटा।

सुनहरी बालियों ने मेरा बिखरा चेहरा समेटा
मैं जल्दी जल्दी नई फसल से भेंटा
बरखा को, हवा को, झींगुर को
धान की अभिलाषाओं से झाड़ा।

मन की आदि गुफा गूंजी
गुफा में सोई आवाजें
आवाज़ों में मौजूद काली सदियां
सदियों के काले हाथ बढ़े
और बालियां काटीं।

– यह बाली अनाम पुरखे को
– यह प्यार कर रहे मृतकों को
– यह गुमनाम अंधेरे को
– यह इस भय को कि अभिशाप न ग्रसे कोई

नई फसल की धान कटती है
कटने से पहले ही
हाथों से या मन से
झीगुंरी निषेध से
प्राण सोखती तेज़ हवा से
कटने की पूर्व संध्या।

1989

सवालों का मरीज

आसमान अबाबीलों से पट गया या टिड्डियों से?
मैं ने बूढ़े मौसम से पूछा।
'अगली मेज से पूछो'
उसने कच्ची धूप की गिलौरी दांत में डालकर कहा।
'पूछ कर ही तो आया हू
मेरा इतना कहते ही
ठहाका – बवंडर उठाते हुए बोला वह –
न तुझे फसल बोनी है न फूल,
जितनी बताओ ठेके पर पहुंचा दूंगा
तेरे मुंह दरवाजे पर।

कांचों पर पुतवा दूंगा रंग
आंखों पर से हटवा दूंगा ज़ंग
बरौनियों से लटका दूंगा
दूधिया झरनों के इश्तहार हरियाले
'ज़ूम' आएंगे खुद ही लालिम क्षितिज
या फेन उगलती धानी झील
फिर तुम से मतलब––
आसमान पर घूम रही है।
अबाबील या चील?

अगस्त '85

ज़बान का विकल्प

दावा है तुम्हें
कि मेरे बिना बोले
मेरा दर्द जानते हो
जबकि मुझे दी दुविधा की खामोश सुलगती आग
दुविधा, जिसे तुम विकल्प कहते हो।

और तुम अच्छी तरह जानते हो
कि ज़बान को यह विकल्प देना
उसके पोर पोर में ज़हर घोलना है।

विकल्प यह कि बोले या चुप होले

कहे कि दांत उसके किनारे कुतर रहे हैं
या कुतरन चुपचाप सहे।

चाहे बोले कि जबड़ों में उगते जंगल
उस पर जाल फेंक रहे हैं
चाहे तो नहीं बोले

चाहे बोले होठों से
कि तुम्हारी पेशानी की चमक
बूंद बुंद रिसते मेरे सीने की नमी है
चाहे करे फैसला
कि बोलना नहीं है।

चाहे बोले बातों से
कि तुम्हारे हों कई कई माने
पर तुम्हारी शातिर दुनिया का फैलाव
कंटीले तारों में बांध रहा है
मेरे भीतर का हर घाव।

और चाहे तो न बोलने में ही कुशल जाने!

जनवरी 1986

झील-मत

पहले जब चौखटा बनाया, नाथ जी
तो आहें क्यों भरो?
अब पल्ले और किवाड़ इसमें भरना ही होगा
जियो चाहे मरो।

चौखटे को फूलपत्ते से सजाया, नाथ जी
'शुभ' और 'लाभ' वाला सिंदूर पोता
बादबानों जैसे झंडे लहराए

बादबानों ने अब आंधियां बुलाईं, नाथ जी
सिंदूर से पत्थर फूला
अहं से डोला
और तुम्हें छोटा कर गया।

चोखट में अतीत सी गहराई क्यों भरी
और असंभव भविष्य सी चौड़ाई?

नीलमत वस्तुतः था झील–मत

याद करो चंद्रदेव!
नीलमत का शर्तनामा मान चुके हो
तो अब चौखट पर ही कैसी इति
चौखट में पल्ले और किवाड़ भरो।
जियो चाहे मरो।

छपी नहीं थी शर्तनामे में आंधियां
निस्संदेह
पर छिपी थीं पहाड़ों के खोहों में

बिना किवाड़ के थे खोह भी
पर बांध गया तुम्हें
चोखट का मोह,
मोह से उभरो, नाथ जी!
जियो चाहे मरो!

चंद्रदेव = सतीसर से उभरे कश्मीर में दक्षिणी आर्य आप्रवासी, जिसने नील (नाग) की शर्तें मानी थीं। (नीलमत पुराण)

मई 1981

"देह के पार द्वार"

लौट आओ प्रवासी!
द्वार पार देह है, पर
देह के उस पार कहां द्वार?
सिर्फ है अभेद्य एक दीवार
जिसपर चौखटे में घिरी
छपी लुभावनी एक खिड़की

परदों के बीच से
आसमान तक जाओ
या ज़िंदगी के पहले और बाद के
देखो खुले मैदान,

पर बीच का अंधेरा?

देह के बीच
है कीच
जिसे सूंघो तो सुगंध
उगाओ तो नज़रों के कमल
बैठाओ तो कंधों पर गौरैया के पंख।

1989

कहाँ है प्रदूषण ?

कहां है प्रदूषण?
जोबन पर है सिर्फ समझदारी का मौसम।

आपको यदि चढ़ती धूप चुभती है
तो साये की तरह ढल जाइए
बड़े बेमज़ाक हैं आप
जो आबोहवा को गलत कहते हैं
शायद न दिल से न दिमाग से
'अगली सदी' में रहते हैं

हवा ही क्यों जोखिम उठाए
और पर फैलाए
वह रेत के ज़र्रों के संग बहती है
यह आपका दोष है कि हवा का
कि आप आइने पर फूंक मारो
तो छवियां रेत की तरह फैल जाएं
और आप को खालिस चेहरा
नज़र नही आए।

जोखिम मत लें
और समझदारी से समझौता कर लें
जिस आबोहवा से गुज़रना हो
धूल बेशक उस दरवाज़े से
पलकों से पोछ लो
पर देहरी पर पड़ी रहने दो
कि अंकित देख सको
कि जो माथा टेका है
उसकी दिशा सही भी है
जो डाला है पैर
वह धूप पकड़ने दौड़ पाएगा
या साये में ठिठका रह जाएगा।

अगस्त 1988

भूंचाल

ऊंचे मकान
अपने ही पैरों की बदबू में
जब सूंघते हैं भूंचाल
तो बुनते हैं मज़बूत हाथों का जाल
गलियों के आर पार!

अचानक आसमान सिर पर उतरता देख
उलटे दौड़ पड़ते हैं राहगीर गलियों के
और एक के बाद एक
भूंचाल के केंद्र में कूदने लगते हैं
और पाट देते हैं जमीन की दरार
जैसे कुछ हुआ ही न हो

नई ज़मीन में कोई और ऊंचा मकान आकर
गाड़ता है पैर
केंद्र से भी गहरे
परिधि के भी पार।
फैलता है गलियों के आरपार
और बदल जाता है समय समय
मेहराब मेहराब
कलश कलश
मीनार मीनार!

दिसंबर1988

तैयारी

अचानक हमले के ख़िलाफ वह तैयार थी

एक हाथ
बगल में लिटाए बच्चे पर
जिसको नज़रों में बांधे रखा
जब तक पलक झपकी नहीं

दूसरा
सिरहाने के नीचे रखे टार्च पर
उगंली बटन पर

जब तक अंधेरा फटकर किरिच किरिच फैला नहीं
और राहगीरों के माथों में
छेद करके पैठा नहीं

जब तक एक बिच्छू
बंद खिड़की की दरार से घुसा नहीं
और उसके हाथ में डंक मारकर
वापिस अंधेरे में
शामिल हुआ नहीं।

सितवंर 1989

सन्नाटे में मां

हुक्म हुआ सन्नाटा हो
सावधान, धड़कन न हो
मकान हो, घर न हों
अंधियारा हो, चीन्हने का उपक्रम न हो
अपनी भी हो परछांई
दरवाज़े से लौटा दो।

वह बचपन से आदी है, पहचानती है
पड़ोसी के लौह दरवाज़े के 'रक्षातंत्र' की मिमियाहट।
दीवार में जब पड़ती है दरार,
अचानक अधीरात जगाकर चेताती है
कि जो छाया दरार से होती हुई
हमारे आंगन के सूरजमुखी चर जाती है
वही छिप के
घर के ऊष्मा कोणों में सन्नाटा बुनती है।
वह पथराए मुहं से अबूझ आवाजों में बोलती है
हम उसे मुस्काने को कहते हैं
तो वह अंधेरे कोणों के जाले उतारती
पूछती है–

वो रोशनी की लंबाई तराश सकते हैं
घनता कम कर सकते हैं
पर हमने
पैरों तले जो दरक रही है ज़मीन
उसके अंधेरे केंद्र में
रोशनी उतार कर कब देखा?

हम समझते रहे सन्नाटा ध्वनि से ज़्यादा प्रतिध्वनि है।

वह खड़ी हो जाती है
घर बुहारता उसका हाथ रुक जाता है
उसकी नज़रें
दूर झील, पहाड़, जंगल में खोजती हैं
और सन्नाटा तोड़ने को तैनात
पहरुए के माथे पर आशंका पढ़ कर लौट आती हैं।
जब हमें अपने गरेबान में आई नहीं धुंए की गंध
तो उसने ही पहचानी थी
कांगड़ी पर सिक रही हमारी बंद मुट्ठियों में
सीली हुई बर्फ
और हमने जाना था
सन्नाटा घर कर गया है।

नवंबर1989
(अगली सब कविताए विरथापन के दिनों की हैं)

दो ग़ज़लें और

1

मैं अपनों के बीच ग़ैर–सा समा गया
अपनी सी सूरतें दिखी और दिल आ गया।

पेड़ फूल का कुशल यार ने लिखा मुझे
लिखा नहीं जो, वो दो आंसू रुला गया।

आदत पड़ी तो हंगामों में लगी आंख?
ख़ामोशी में कौन अकारण जगा गया?

क्षण में शोला उठा चिनार की चिता जली
जनम जनम के लिए याद में समा गया।

मन–वुल्लर में लहर क्यों उठे वह पूछे
आंख की वितस्ता में जो तूफ़ाँ उठा गया।

कंकड़ सुलगे धूल धुँआ बनकर फैली
आग कौन ऐसी सड़कों पर लगा गया।

जीवन हीन शहर है तो क्या यार तो है
कैसे भी जीने के गुर जो बता गया।

हुए मुखौटे भी हैं मैले और चिथड़े
देखा जिस दिन वह आईना थमा गया।

इक तनहा तारे से ठण्डी किरण आए
इन चकाचौंध रोशनियों से जी अघा गया।

शीतल होगा शहर चलेगी अब बयार
पिया मेरे मन आंगन बूटा लगा गया।

मार्च 1991 जम्मू

2

शब्द अंधे जंगलो में खो गए
अर्थ बुझी मशालों–से हो गए।

दिलाकर नज़दीकियों के छलावे
दोस्त थे पहलू बचाकर जो गए।

बारिशें हमवार करलें ज़मीं को
मगर तिनके आसमां–से हो गए।

कौन सुख था खोजने जिसको गए
रास्तों में बीज दुख के बो गए।

सराबो, अब शोक मत मेरा करो
लौटने के मार्ग मेरे खो गए।

जानकर, वो, पट रही हैं खाइयां
देखलो, हर तरफ कांटे बो गए।

चलाकर हर ओर तेज़ाबी हवा
मधुर सपनों में पलक डुबो गए।

1991

सपनों की ठिठोली

आजकल सपनों को सूझती है शरारतें
बेमांगे
तस्वीरें दोहराते हैं
जिन्हें हम भूलना चाहते हैं।

भूला भुलाया
बहुत पीछे छूटा घर
छाया बन कर पीछे आता है
अचानक छटपटाता है
हमारा ध्यान खींचता है
हमारी नस नस का ज़ीना चढ़ता है
और दिल में चैन के कोने में जा बैठता है।
खुला दरवाज़ा पल्ले पटकता है
और हमारे भीड़ भरे दिमाग में न घुस पाने पर कुढ़ता है,
खिड़कियां बेवजह रतजगों का रोना रोती हैं
और हमारी आंखों से
उजाला धोती हैं,
आंगन पैरों पर बैठता है
छत उतर आती है

और सामने पसर जाती है,
खामोश दीवारें बोलती हैं
और वर्जित बोल
सुना जाती हैं।

रोते लोग याद करते हैं कहानियां चुपचाप
अरथियों–सी डोलियों की
क्योंकि हंसते लोगों ने क्षण क्षण झलकाई थीं
बत्तीसियां गोलियों की।

रोते हों या हंसते, कोई नहीं पराया है
सदा से ऐसा होता आया है
दाग़ता है मुस्करा कर हाथ एक
और लगती दूसरे हाथ में गोली है।

यों ही सूझती सपनों को
ठिठोली है।

मार्च 1991

ऋतुचक्र

कैसे उतर सकता है मेरी आंखों से
वासंती रंग
वसंत पर आकर ही रुक गया था
मेरा सदियों का ऋतुचक्र
दो बरस पहले।

इसी दिन
चल पड़ा था मेरा काफ़िला,
वतन को विदा कहती भीगी नज़रो में पगडंडी पगडंडी
खेत खेत
घाटी घाटी
पीले फुंदनों वाली सरसों तड़प उठी थी।
हमेशा से खामोश वह
सदा से निर्मम मैं
आलिंगन में कस गए थे
अनायास!

तुम देख सकते हो
छपा है तभी से पीला फूल मेरी आंखों में

फरवरी 1992, जम्मू

उभरा ही होगा
मेरी पीड़ा का दाग़ उसके सीने में।

पीली मेरी नज़रें तभी से बुझी, रक्तहीन।
आंधी के झोंकों में उड़ते तिनकों जैसा
उलझा जाने किस झाड़ी में शक्तिहीन
मेरा सदियों का ऋतुचक्र।

जानता हूं
बदले होंगे मौसम ज़रूर वहां भी
लोकनाचों की तरह बेतहाशा
(यद्यपि उनके पैरों में भारी ज़ंजीरे हैं)
या रीत रस्म की तरह
समय समय पर अपने आप
ढो रहे हैं यद्यपि अवांछित शाप!

अवकाश

ऐसा नही कि यह ज़मीन
बहुत तपती है और
मैं तलुए झुलस जाने के डर से
इस पर पैर रख नहीं रहा

ऐसा भी नहीं कि धूल ढका आसमान
सिमट रहा है
और मैं नज़रें दौड़ा नही सकता
बाहें फैला नहीं सकता,
मुझे तो और सीमित आसमान में सिर उठाने की
आदत थी

ऐसा है बंधु, कि मेरे पैर वितस्ता की कीच ने
पकड़ रखे हैं
और हड़बड़ाहट में
मैं उन्हें पीछे छोड़ आया हूं

मेरा माथा अभी भी
यहां के ताप से पिघल नहीं रहा,

यह सदियों से
'महादेव' और 'हरमुख' की मेघ ढकी चोटियों से
ठण्डे धीमे संवाद में
लीन है

मेरी आंखें धुधुआई हैं,
धूप सिकी हैं, पर
इंच इंच सरकते ग्लेशियर सोच कर
लौ लौ दिपती हैं,
रंग बदलते चिनारों से
छुआ छुऔवल खेल कर
मेरी चाम सीझ जाती है

यों मेरा तन
मन के अवकाश में लौट लौट जाता है।

जून 1993 जम्मू

बरसात में नीरस कविता

बरसात में शहर वासी को है सुख ही सुख
क्या कीट पतंग क्या मनुख,

जुगनू को सहज ही मिलता है
काले आसमान का मंच,
बादलों का परदा।
वह गड़गड़ाहट के बीच उड़ता हुआ
चमचमाती दुम भांजता है
और करतब दिखाता है।

मनुख को मिलते हैं
जोखिमहीन सोच के पंख
और वह पराये दुख की ठंडक से
अपनी आंखें आंजता है

और आह भर कर पूछता है—
कैसे लिख पाते हो, टूटे टपकते टेंट में?
तीन साल से अलाप रहे हो
एक ही रोना, एक ही राग

उभार रहे हों
उजड़े हुए रंगों से चरित्र हतभाग!
सन नब्बे में क्या ताज़गी थी
पीले गालों, नीले होठों और लाल आंखों वाली
जो गाई थी
वह रंगीन कविता
हमें बहुत भाई थी,
लेकिन फिर.......

जून 1992, जालंधर

बड़े ढीठ हो, कश्मीर

बड़े ढीठ हो, कश्मीर
ठीक भूकंप के समय
लोहे और आग का खेल देखने
कहां छिप गए?

जानते हो
गोद के तुम्हारे उस बच्चे की आंखें
जिसे तुम हड़बड़ी में फेंक चले थे
लोहे ने कुरेद लीं
और भूकंप ने भून कर खालीं।
अंधा बच्चा
अब बियाबान से
भीख में तुम्हें मांग रहा है।

जानते हो
तुम्हारी उस बच्ची का हाथ
बहुत देर हवा पकड़ने की कोशिश करता रहा
जिसकी उंगली छोड़कर तुम हवा हो गए।

सुनो, ताकि याद रहे
हवा की ही तरह कोई लोहा भांजता आया
और उसे
मांग से जांघ तक काट गया।

कुछ देख सुन समझ नहीं सके थे
तुम्हारे बूढ़े मां बाप
कहीं से आई पैनी लपटें
और उन्हें 'अनुपयोगी' आंख कान नाक से
मुक्त कर गईं।

कब तक भूमिगत होकर रहोगे?
भूमि पर तैर रहे प्रेत स्वर अबूझे
प्रेत प्रति ध्वनियां
अनसुनी करोगे
स्याही में ढलने को कुलबुलाती बौखलाहट
भस्म होते ठठ्ठरों की करकराहट ?

जुलाई 1992, जम्मू

शहर का पासंग

किस पर टिकी है यह
पत्थर–शहर की ढालू छत
बालू बरसाता आसमान?

क्या तुम समझते हो
कि मंदिरों के कंगूरे और ऊंचा उठेंगे
और आसमन छिद जाएगा
और इसका संतुलन लौट आएगा?
क्षितिज कुछ और दूर दिखेगा?
दुनिया कुछ और बड़ी हो जाएगी?
झपटने को आतुर हाथों पर
कुछ दूसरी तरह की रेखाएं उभरेंगी?

क्या तुम समझते हो
कि भोंपू लगे कलश–कंगूरों की ऊंचाई
बढ़ रही है
और आधी नीयत से ढला
नींव का अधपका ईट–गारा
उन्हें वहन करता रहेगा?

और स्कूली बच्चे बड़े होकर
ईंटगारे से शिकायत नही करेंगे?

बदल रहा है, फिलहाल, अपने आप
शहर का पासंग
दरारें डाल रहा है
ढालू छत का भार
और दब रहे है बच्चे लगातार।

दीवारें ढहने का है
अस्पताल में और स्कूल में
एक ढंग।

जुलाई 1992

सहज शहर

यह आसमान से बरसती आग का है
स्थाई चमत्कार
यह पथरीली सतह के तले
तहखाना बसाने की प्रच्छन्न तलाश
कि
शहर में
ख़ून का
एक की आंख में उतर आने से क्षणों पहले
दूसरे की अंतड़ियों से टपकना
होता है स्वतः सिद्ध
और दुर्निवार......

सहज होता है हर बार।
सड़क पर सूखने से पहले
खून की धार
समय–सिद्ध लोग लांघ जाते हैं
कि
समय रहते
माथा टेक आएं 'माता' के द्वारे
और आखिरी खबर जानें
मंडी के बारे।

अगस्त 1992

बुलावा

तीखे दांतों की दरार से हवा गुज़ार कर
सीटी बजाते हुए उसने मुझे आवाज़ दी–
लौट आओ अपनी जगह, अपनी औक़ात
दांतों के बीच।

मैंने सोचा देर ही सही
सुबह का भूला है
मुझे शाम को बुला रहा है।

मैं भी सीटी सा बजने लगा।

जाने कहां ताक में बैठा था
तूफान का रेला आया
मेरा मुंह बालू से भरने लगा
दरार को हवा
हवा को ज़बान का स्वर
अखरने लगा।

बरसों बाद पितरभूमि का बुलावा
ऐसा ही होता होगा—
कड़ी उमस और बूंदाबांदी के बीच
चुभती धूप का सा अंतराल,
जब किरणें
प्राणलेवा भिड़ों—सी तन से चिपकती हैं।

पहली सीटी बजते ही
पलकें पांवड़े बन बिछ गई थीं
पहाड़ी प्राणवायु के स्वागत को।
अबूझ आवाज़ों के अर्थ करता
आगामी शीतल छाया में सियराता रहा था
भोला मन!

अब लौट आया है
तंबू में अलगनी पर जा बैठा है
अपनी जगह अपनी औक़ात
और असहाय देख रहा है
कि बुलावे का स्वर
समय समय पर
कभी कमान सा झुक कर आया है
कभी तीर सा ऐंठा है।

अगस्त 1992

प्रमाण पत्र नहीं है मेरे पास

मैं साबित नहीं कर पाऊंगा, महोदय
कुछ भी साबित नहीं कर पाऊंगा।

आपको मेरी भाषा प्रामाणिक नहीं लगती
मेरे माथे की चौड़ाई संकरी
मेरी नज़रों की पहुंच
मेरे क़दमों की उठान
मेरे हाथों के हस्ताक्षर प्रामाणिक नहीं लगते
नहीं कर सकूंगा कुछ भी साबित
प्रमाण पत्र नहीं है मेरे पास
न तन के विस्थापन का
न मन के निर्वासन का।

नहीं
नहीं, वह प्रमाणपत्र नहीं था
जो पलायन की उस रात, मुंह ढक कर
मेरा विद्यार्थी मेरे आंगन में फेंक गया था
वह
मुझ से अक्षर अक्षर सीखे मेरे शिष्य का हस्ताक्षरित

अल्टीमेटम था
जिसकी रू से
अगली सुबह उगने वाला सूरज
मेरे रोशनदान पर रखा
टाइम बम था।

वह, जो मेरे पड़ोसी का एक वचन था
वह भी नहीं था प्रणाण पत्र
पड़ोसी, जो मेरी प्रतिरक्षा में दहाड़ता शेर था
जाने मेरे किस पूर्वज से प्रतिहिंसा के
अपने दूसरे वचन के सामने
खुद ढेर था।

नहीं दिया समय ने भी प्रमाण पत्र
वह एक चश्मदीद गवाह, सुलतानी हो गया
साफ इनकार कर गया
कि मैं रातों रात उसके लापरवाह पहरे को
पार कर गया
और लाइन में खड़ा
अंधेरे से न्याय मांगता प्राणी हो गया।

अगस्त, 1992

कोई मेरा घर देख आए!

छूटा
दूर, बहुत दूर हो रहा है
मेरा घर,
मन की हर संभव उड़ान से दूर...
यद्यपि
सांस में गांठ हो के अटक गया है।

कोई खबर नहीं लाया
कोई संदेसा उड़के नहीं आया।
कोई जाए और मेरा घर देख आए।

गोली और थैली के उलझे दायरों के बीच
घिर गया है मेरा घर....

पपड़ा गई है मेरी चमड़ी
उलझ गई हैं माथे की दिशाएं
सख्त हो गए हैं सीने के फफोले
चिपक गए खून के थक्के,
तन के इस ऊबड़ खाबड़ में

मेरे घर जाने वाले सीधे रास्ते
सरल गलियां
खो गई हैं

मेरे देश!
मेरे सदियों के आश्वासन!
अब जो मैं घर में नहीं हूं
तुम उसे देखने जाना चाहोगे?
देखने जा सकोगे?

अंधेरा है
पर तुम अंधेरे में भी उन दीवारों को चीन्ह सकते हो
जो खामोश सिर उठाए खड़ी रहीं
दनदनाती बोलियों और गोलियों को
पारदर्शी सीना दिखा कर
लौटाती रहीं,
सदियों केवल
उनके निशान संभाले रही।

देश!
तुम जब भी आश्वासन देने आए
मुझे अनदेखा किया
मैं जो उन दीवारों को थामे खड़ा था
निशानों को पुछ जाने से बचाता हुआ।
तुम अपनी पीठ थपथपाते रहे
और उठाते रहे एलान का स्वर
और ऊंचा–
कि 'अटूट' 'अभंग' है यह
अपारदर्शी मीनारों–मेहराबों की ठण्डी छाया में
धूप के छींटे को तरसता
मेरा पारदर्शी घर।

मीनारें चुप खड़ी रहीं और कहीं से आए
विद्रूप अट्टहास को प्रेषित करती रहीं
मेरे घर की ओर
और सोखकर ले जाती रहीं
मेरा रक्तमांस नोच नोच

मैं जो बचा पाया
वह एक निर्वसन आत्मा थी—
एक अस्थिपंजर में कैद,
कुछ पारपंरिक ध्वनियों प्रतिध्वनियों से
नए अर्थों की खोज से
अपनी लज्जा ढकती हुई
एक निर्वसन आत्मा

काश कोई जाए और मेरा घर देख आए
और जान पाए
कि जब शातिर सन्नाटा बोलना चाहता है
तो अनात्म आदमी
और आदमी का जन्म चाहती आत्मा का अंतर
किस कला से मिटाता है

मैं घर में नहीं
मेरे अनहोने की गूंज
तुम्हारी आहट पाते ही
तुम्हारे पांव से टकराएगी
हाथ थाम लेगी
और तर्क की तरह तुम्हारी राहों में बिछ जाएगी

मेरी दीवारों में बरसों से चुनी हैं घंटियां खतरे की
सदियों से इन्हें मैंने
अपनी खाल तले लगा रखा है

इन्हें बिना सुने मुझे नींद नहीं आती।
लौट कर बताना मुझे
कि अब जो मैं वहां नहीं हूं
क्या बज रही हैं वे?
या मीनारों के अट्‌टहास को गुंजा रही हैं
और मेहराबों का शुक्र मना रही हैं?

सुनो
वाचाल दिशाओं के रंगों से अलग
मेरे घर का रंग था

बड़े सवेरे सूरज
आंगन में इंतज़ार में खड़ा हो जाता था
कि देहरी द्वार लीपे
ठाकुर द्वारे में बैठी गृहस्थिन बाहर आए
और उसे चिर जीवन का अर्घ्य दे जाए।
पंखी, पेड़, जनावर उड़ीकते
और तनिक बतियाने को तरसते
(चुग्गा, पानी, पत्ती और दो रहस्य के बोल)
बाट जोहते फूल और कांटे
कि गृहस्थिन अपना सुख बांटे

मेरे घर की सुबह, पूर्वी खिड़की सी खुलती थी
जब उतरा करती आसमान ढाँकती
'काँय, काँय' की गुहार
जब कौओं की पांत को रहता था
अपने जनम दिन 'कौआ–पूनम' का इंतज़ार।
अब पश्चिम में ढलने से पहले
न ही शाम ललाती होगी
न संध्या की किरण मेरी निर्जन खिड़की को

चूम जाती होगी
जब न रहा संध्यादीप से आरती उतारने वाला
कोई दीपाधार
तो कौन दे किरण को आमंत्रण
कौन गढ़े उसका आकार?

दक्षिण–मुखी रहा
दक्षिण–मुखी जिया मेरा घर
क्षण क्षण
यात्रा से यात्रा तक गिनता रहा सांसें
करता रहा आकलन
कि कौन कथा रचे, कौन बाना धारे
कि गंगा गोदावरी रामेश्वर के
अपने ही आंगन में पर्याय उभारे!

उत्तरी पहाड़ों में ढला
मेरा उत्तर–स्नेही घर
वीतराग ऊंचाइयों
और मन की आर्द्र गहराइयों के बीच पला
उम्मीदों के अनुष्ठान करता रहा
अनुष्ठानों के चित्र और गीत
रस्में और रीत–
यह कि "हिमचिरैया" की 'शीं–शी' थल थल जाएगी
और जेबें भरकर बर्फ लाएगी
तो मछली भात की गर्म भाप सूंघते
खड़ाऊँ झुनझुनाते
उतरेंगे पौढ़ियां
गृहरक्षक घर देवता,
और यों बना रहेगा
उत्तरी हिम से दक्षिणी सागर तक फैले
इस विशाल विविध देश का भ्रम!

कोई मेरा घर देख आए
जो जाए वह असंमजस में न पड़े
न अचकचाए
यदि उसकी अगुआनी में
मेरे आंगन का बूढ़ा चिनार आए
और सायास मुस्कराए।

चिनार के लाल पत्तों से बात करने का मौसम समझ
यदि कोई पूछे–चिः नार ? – क्या तुम आग हो?
तो एक नज़र उसको एक मेरे घर को देख
उठती पीड़ा को अपनी ही शारदी आग में होम देगा
और कष्ट से मुस्कुराएगा।
पूछने वाले को मौसम और सुंदर लगेगा बेशक
पर यह प्रश्न
उसके लिए बड़ा हृदयविदारक होगा।
चाहो तो करो उससे बूढ़ी उम्र के बारे में
कोई भी ताजा संवाद
पर नहीं छेड़ना कभी चिनार से
उसकी जड़ों का कोई ज़िक्र।
नहीं उठा पाओगे ऐसे सफ़र का बीड़ा
जिसका कारवां उसकी जड़ों तक जाता हो
उसके जीवन के उस स्रोत तक
जो सती का आदि सरोवर–सतोसर–था
और सर के किनारे वाला उसका आदिरूप
'चिनार' नहीं 'भवानी' था।

कसैली हो गई है मिट्टी
सूख गया है बाहर की तरह
मन के भीतर का भी सर
और कसैली मिट्टी से रस प्राण चूसते चूसते

पूछने वालों को मीठे पानी तक ले जाते
'भवानी' थक गया है
अपने नाम की ही तरह खो गया है
'भवानी' से 'चिनार' हो गया है।

कोई मेरा घर देख आए
और शनैः शनैः धूमिल पड़े
मेरे अतीत के फ्रेम मढ़े फोटो
मेरे घर की दीवारों से कुरेद निकाल ले।
मुझे डर है–
कहीं ऊंचे क़द वाली मेरी निष्कलंक पगड़ी
शीतल छज्जे और दोधारी ऐंठन वाली मेरी "पूच़"
उनके हाथों में नहीं पड़े
जो उन्हें मरोड़ सरोड़ कर
अगले इतिहास को छलने के लिए
सुलतानी गवाह की तरह
मेरे ही खिलाफ़ इस्तेमाल करेंगे
मेरे "गावदीपन का सबूत" बनाने के लिए
बचाए रखेंगे।

'पूच़' = स्त्रियों का सिर का पारंपरिक पहनावा।

अगस्त 1992

पोथियां

कश्मीर
तुम मुझे तार तार कर सकते हो
पन्ना पन्ना बिखेर सकते हो
पर मैं टुकड़ा टुकड़ा समेट कर जियूंगा
फिर संपूर्ण हो जाऊंगा
और तुम्हें फिर पाऊंगा।

मैं तुम्हारे कल की पोथियों से फलादेश लूंगा
अर्थ करूंगा
और अपने कल के ज़ख्मों पर
नए अर्थों की पट्टी करूंगा।

जब तुम सामने थे, कश्मीर!
तो मैं मानता था कि फलादेश बेजा है
क्योंकि जानता था कि अर्थ वह नेज़ा है
जिसकी तेज़ अनी से मुझे बचना है!

अब सफ़र में हूं
तो चुभा रहने दूंगा
आधा माथे में और आधा जिगर में
आधा पड़ाव में और आधा डगर में!

कश्मीर!
घाटी में जी रहे हो क्या?
तुम्हें खबर है
कि तुम खुद अपना इतिहास नहीं रहे
तिथियां भी नहीं रहे हो?

जानते हो ?
घाटी के बाहर तुमको कैसे जी रहा हूँ
तुम्हारी पोथियों के बिखरे पन्ने कैसे सी रहा हूं ?

कश्मीर!
तुम तोता-चश्म हो सकते हो
पर सदियों के लिखे अपने ही अक्षरों की मीमांसा
नकार सकते हो?
मैं तुम्हारी ही पोथियों से
तुम्हें पाने की नई तिथियाँ
खोज लूंगा।
इतना समझ लो, कश्मीर!
तुम्हारी राह देख देख कर
जब मेरी बरौनियां थक जाएंगी
आंखें तुम्हारे रास्ते नम भी नहीं कर सकेंगी
तो तुम्हें आना ही होगा
अपनी किसी तिथि को सच करना ही होगा
वरना पोथियों की पोटली सिर पर लिए
जिलावतन रहोगे
घाटी के बाहर जैसे
घाटी के अंदर भी वैसे ही।

अगस्त 1992

पितृभूमि

उसने मेरे लिए एक लाल नदी बिछाई है
और आमंत्रण दिया है
कि मैं तैर कर पितृभूमि लौट सकता हूं
चुनौती दी है
कि दांतों में उसका परचम पकड़ूं
फिर सिर पर ढोकर ले जाऊँ
जान और जिस्म का जो भी संबंध चाहूं।

बेबाक और साफ़ है
उसका हिसाब–
मेरे तैरने से बनता रहेगा पुल लगातार
पितरों के तर्पण से जिंदा रहेंगे वितस्ता के घाट
बारूद से वह फोड़ देगा नदी का ठोस तल
चौड़ा करता रहेगा नदी का पाट
"यों सुरक्षित रहेंगे हम दोनों के
मौलिक अधिकार।"

बेबाक और साफ है
उसकी राय उसका सुझाव--
अभी भी समय है
मैं समेटना शुरू कर सकता हूं
अपना वर्तमान, अपना आकार
कि मेरा व्यर्थ का विस्तार
उसकी विश्वव्यापी तलवार की
भेंट न हो जाए।

दिसंबर 1993

नाखून

आग ने हाथ से शिकायत की
हाथ ने झट सहमति जतलाई
और उंगलियों को आड़े हाथों लिया–
आंच को दोस्ती जांचने तुम्हें फैलाया था
तुमने नाखूनों को बढ़ने की क्यों दुआ दी?
नाखूनों ने क्यों लपटों पर खरोंच लगा दी?
मेरी वरद मुद्रा, वरद मुस्कान पोंछ डाली
मेरी बदनामी को हवा दी !

उंगलियों से कुछ भी जवाब नहीं बन पड़ा
सिर्फ खीज कर कहा–
हाथ!
कोहनी से कंधों से बह आते खून से पूछो
दूषित समझ जिसे हाशिए पर रखा
मेरे सिरों पर जो जमा किया कूड़ा
वही नाखून वही
वही खरोंच सका खरोच!
वरद मुद्रा में खड़े हाथ!
वर आग को नहीं
नाखूनों को देकर देखो
यह अर्थ भी अपनी मुस्कानों को देकर देखो!

जनवरी 1994

रेत

कसो नहीं मुट्ठियां
दाना दाना संचय
चुभ जाएगा ज्यों रेत
और
किसी दिमागी भभके
या मन–हिंडोले की झपकी में
फिसल जाएगा चुपचाप
उंगलियों के पोरों के बीच।

रेत की सुनो करकराहट, नदी!
गरजो नहीं।
यही तुम्हारा अर्थ
जो बरसाती आंकड़ों से परे
तल पर बैठता है स्थिर

छलकता है जो
वह सिर्फ कीच और कीच।

जनवरी 1994

नदी पूछती है

मेरी भी थी एक नदी
मामूली सी
किसी बर्फ़ की बेटी थी
और किसी बादल की नातिन
बचपन में उसने पत्थर पहाड़ काटे
और जवानी में खाई खड्ड पाटे।

मामूली थी मेरी नदी
मेरी ज़मीन कितनी मीठी है और सलोनी कितनी–
वह जानती थी।
मेरी शिरा शिरा कितनी गहरी है उथली कितनी
पहचानती थी।
सच तो यह है सुख के दिनों नदी से मैंने प्यार किया
उसकी चंचलता पर मैंने डोरे डाले
उसके तट पर
नींव डाल दी मैंने अपने घर की
गिरहस्थी फैलाई अपने शहर की

नदी ने जवानी मुझ पर वारी।
बर्फ सी निर्मल बादल सी कोमल
अपनी दुनिया सारी

मैंने सपने रचे, अपनों सा नदिया को प्यार दिया
कथा कल्पना में उसका श्रृंगार किया
कभी कमंडल कभी कठौती में उसको ढाला
कभी आचमन में पी लिया, कभी जटाओं में बांधा
कभी स्वैरिनी कहा, कभी गुणवती शीला बतलाया

कथा कल्पना रचते रचते, लेकिन मैं नदिया को भूल गया
बिछड़ती गई नदी, दौड़ में शहर अव्वल आया
मंद नदी की हुई रवानी
गटर शहर के उफनते गए
छीज नदी की गई जवानी
सजाता रहा था मैं केवल कथा कहानी।

मेरी नदी मौत पर अपनी रोती है
नहीं बर्फ का कोई रिश्ता उसे पता
किस बादल की वंशज हैं, मालूम नहीं
अब वह शहरों की सड़कों पर भटक रही
दफ़्तर दफ़्तर घूम रही,
ढूंढ़ रही है फाइलों में अपनी खोई आत्मकथा

मेरे द्वार पर दस्तक देकर पूछ रही—
पानी के बदले कीचड़ मैं ढोती हूं
किस भाषा में, किस परिभाषा से मैं नदियां होती हूं?

जून 1994

जगमोहन ?

मेरे पड़ोसी के पीछे का पड़ोसी
अचानक
मेरी समझ से बाहर था
यद्यपि वह बड़े समय से
अपने लक्ष्य के अंदर था।

पर बन्धु
तुम और सरल निकले
जो परिधि पर खड़े हो बेफ़िक्र
कि आवाज़ों में अब लक्ष्य–बेधन के ज़ोर नहीं रहे
तुम तक आते आते खुद ही थक जाएंगी।

तुम्हारा अपना संगीत तो काल सिद्ध है, भाई!
और अपनी रक्षा के लिए बांध रहे हो
गले में डोर
शोर के,
बार बार दोहराए जा रहे रूढ़ झूठ!

तुम्हारा भी मेरे जैसा
करोड़ों वर्ष पुराना सच है हिमालय
तो फिर कैसे हामी भरी
कि कोई सूरज इतना 'जगमोहन' था कि उसने मोहे रातों रात
हिमालयी देवदार, बर्फानी चोटियाँ, गहरी झीलें
चंचल झरने, हरियर घाटियां...
सब उड़ चले मोहित होकर,
('चूहे' जैसे 'बंसी वाले' के पीछे)
और तपते मैदानों में
खेत रहे या रेत हो गए
यों कृतार्थ हो गए

तुम डरे हो भाई!
सच डरे होते हैं, बेहिम्मत, सरल विश्वासी
पर यह भी जानो
झूठ भी मन ही मन आतंकित होते हैं
और ख़ून के थक्के की तरह
विस्फोट से बचने की कोशिश में
अपनी किसी धमनी में
रुके होते हैं।

जुलाई 1994, दिल्ली

पहाड़ पर

बादलों को छेदकर
झांकते रहो यों ही थोड़ी देर और
देवदार शिखरो,

कहो नहीं इसे मैले मौसम का धुंआ,
वनैली भाप को
तपोधूनियों की सतह तक उठाओ
चादरों से तन लपेटो
तपस्या में रहो थोड़ी देर और
लूटने दो मुझे
अप्रत्याशित वरदान।

बादलों को छेदकर
देखो मुझे मिला है थोड़ी देर और
नीली धूप में तह किया
तुमसे ऊंचे आले पर रखा आसमान।

सेंकने दो मुझे
तन मन के फफोले
घास के हरे निमंत्रण पत्र पर।

अगस्त 1995

श्रीनगर : 175

मील के पत्थर !
तुम्हारे पाषाणी इशारे
अचानक कैसे गतिशील हो उठे हैं
कि ज़ंजीर बनकर
मुझे बांध रहे हैं।

यहां आकर मेरे पैर ठिठक जाते हैं
पहियों से उतर जाते हैं
और 175 का अर्थ करने लग जाते हैं।

अधिकांश अर्थ अपढ़ा रह जाता है, जानता हूं
ज्यादा छलावा है, थोड़ा बुलावा
अधिकांश अक्षर पराए लगते हैं
जो इतने आत्मीय थे
कि उन्हें पढ़ना उबाऊ था।
अब उनसे संदिग्ध– सी कोई बू आती है
नथुनों को कुरेदती है
चाम में धंस कर बेचैनी की कोई नस छू जाती है

यह न अपने पसीने सी गंधाती है
न अपनी सिनक– सी चिपक जाती है।

मील के पत्थर
ऐसी मंजिल पर तुम्हारी गिनती
मात्रा–संख्याहीन होके रह जाती है

अब तुम्हारे पाषाणी इशारों का
मैं क्या अर्थ करूं
तुम एक हो या पचहत्तर
मैं तुम्हें ढो नहीं सकता
फक्कड़ नींद सो नही सकता।
ओ 175!

अगरत 1995 पतनी टॉप

आज यह अचानक नहीं, कृपाराम!

जब जाने माने अपनों ने त्यागा था
और अनजानों ने अपानाया था
तो टूटा था समय का अवरोध
बह चला था वितस्ता का पानी
स्वेच्छा से वरी थी दिशा
इस उम्मीद में कि कभी
सदियों बाद ही सही
लौट आएगा इतिहास का दिया नाम और दाय
वितस्ता के बेटों में बोध,
खोद के टोह लेंगे वे सूखी नदी की लकीर
लकीरों के स्रोत, रंग, पता, धाम
गहराई में दबा पड़ा
नींव का कोई भूला नाम
सूखे आंसुओं के दाग़,
दाग़ों का सिलसिला
कोई अंतः सलिला

आज यह अचानक नहीं, कृपाराम!
कि आंखों में छा गई तुम्हारी तस्वीर
अमरेश्वर की ओर उठे, तुम्हारे हाथ
आनंद पुर की कल्पना में खिला तुम्हारा माथ
आज यह अचानक नहीं।

अप्रैल 1995

घाव

वसंत, तुम्हें आना होता है
तुम आते हो
मेरी छाल में कोंपलें फूटती हैं
कोंपलों के आईनों में मगर
गुझे कोई आकाश नज़र नहीं आता
सिर्फ अपनी जड़ें दिखती हैं,
जड़ें जो बारीक हैं
जड़ें जो तेज़ हैं
जड़ें जो ज़मीन में हज़ारों बरस गहरी हैं
जड़ें जिन्हें अब विश्वास नहीं रहा
कि उनका अंकुर वसंत देखेगा।

मुझे क्या तसल्ली दोगे, वसंत!
मुझे तुम्हारे उत्सव की डुगडुगी सुनाई नही पड़ती
तुम्हारे फूल चमचमाते नहीं लगते
तुम्हारे रंगों में रौनक नहीं....

किसी योजना की तरह तुम आओगे, वसंत
पर मुझे क्या बहलाओगे

मेरे पैर ठिठक गए हैं
यह किसी यात्रा का पड़ाव नहीं
उखड़ गई जो घास
उसी घास में ज़िंदा हूं
घास, जो मेरी छाया में उगी थी
छाया, जो मुझसे अलग होकर बहुत पीछे छूट गई।

यह कोई मामूली घाव नहीं हैं
मेरे पैर ठिठक गए हैं
यह किसी यात्रा का पड़ाव नहीं है।

मार्च 1995

वापसी

उठते हैं मेरे हाथ
खुल जाती है तर्जनी।

एकरेखीय आवाज़ों के ग्राफ़
अचानक आसमान छूने लगे थे
तो गवाह मैं ही था
अब बेनीयत पुकारों के हिज्जे
मुझे ही सुनाने पड़ रहे हैं।

हां देख रहा हूं
सोच में खड़ी है धूप घड़ी
हाथ सीने पर दोहरे किए हुए
पीछे छिपाए भारी पांव

हां जानता हूं
इसकी सुइयों से गर्दन
मुझे ही झुलानी है
भारहीनता का करतब
मुझे ही दिखाना है।

इधर मैंने तीखी धूप से
फफोलों के लिए मरहम के रंग
लेना सीखे हैं।

हमराज़ हैं मेरे कागज़
जिन पर पड़े स्याही के धब्बे
सवर्ण बनने की कोशिश में हैं।

मुझे अपनी बेपता लापरवाहियों का
अनुमान है,
जो मेरे सान्निध्य में दर्ज हैं
और मेरा मुंह ताक रही हैं
कि अब उन्हें
किस सफ़र में झोंकना है!

जनवरी 1995

'नई सदी'

नई सदी,
तेरे दरवाज़े पर खड़ा हूं सोच में
प्रतीक्षा है
दरवाज़ा खुलेगा और तिलिस्म बोलेगा
मिलेगा आश्वासन
कि मेरी पीड़ा का उपचार सुरक्षित है तुम्हारे पास
किन्हीं चिप्स में,
ऊर्जा की नियंत्रित गति में
सर्किट में, आश्मित हरकत में
या किसी क्वाट्र्ज़ की शिलीभूत गति में
या...

अभी मेरी पीड़ा के हैं अपने उपाय
नई सदी
तेरे दरवाज़े पर चिपका रहा हूं
चहकते झिलमिलाते विज्ञापन
नकली उपभोगों के ही सही
पर बहुत प्रभावी इंद्रजाल
सुने सुनाए ही भले

चौड़े विदेशी रास्तों पर
दौड़ने फिसलने की ललक
चकाचौंध धूल
परदेशी गलियों से बटोर लाने का जतन
अपने माथे को संकरा करके
अनुकूलित करके सजाने का मन
बहुत आस है बहुत चाव
बहुत समय से केवल पाले अपने घाव

जानता हूं तुझे तू यायावर है नई सदी
तू घूम फिर आएगी
फिर डालेगी मेरे यहां पड़ाव
और जगह गति देगी
मेरे यहां बखानेगी ठहराव
इसी सोच में पड़ा, खड़ा तुम्हारे दरवाज़े पर हूं
'नई' सदी!

जनवरी,1996

काश कि दरार...

दरिया पट रहे हैं।
खून गाढ़ा होता जा रहा है।
हम उथले हो रहे हैं।

समतल सा मौसम, अचानक
छटपटाता है
और सड़कों पर लोटने लगता है

या समय नहीं मिलता कि बता पाए
हमारी बातों में आरोह भी था अवरोह भी
या हमारे स्वर पराए हो रहे हैं

आंसुओं की लीक पारदर्शी नहीं रही
कि दाग़
आग की गवाही दे सकते
और नमक
पारंपरिक दर्द की

यह किसका अभिशाप फल रहा है
कि हवाएं
बची खुची गहराइयों में
दुबकी बैठी
नमी को सोख रही हैं
आकाश दिशाएं समेट कर गाढ़ा हो रहा है।

जब हम छोटे थे तो बारिश को कोसते थे
कि कैसे चालाकी से समा जाती है
ताज़ी बर्फ की तहों के बीच
और झिलमलाते कांच में
डाल देती है दरार
पानी हमारी आँख में खटकता था।

आज तरसते हैं
नज़रों की बर्फ़ में दरार पड़े तो कैसे!

मार्च 1996

कुछ शेर

धंसे ज़िंदगी खड्डों में, आत्मा क्योंकर
ऊंचाई पर जनम जनम पहरा देगी?

पेड़ मौसमों की गरमी पी डालेंगे
घास रोशनी की बूंदों को तरसेगी।

देखे बिन हम परछांई पढ़ना सीखें
फिर क्यों रात धमाके से दस्तक देगी।

जितनी उड़े सुगंध नाक उठे ऊपर
पैर तले की धरती बेबू फूटेगी।

रौंद बढ़ोगे आवाज़ें औरों की, पर
अपने दिल की धड़कन तुमको रोकेगी।

●

पौधों जैसे हम आंधी की चपत सहेंगे
भौंचक होंगे नहीं रोएंगे नहीं हंसेंगे।

क्यों तुम करो धमाका एक दस्तक काफी है
हम तेवर तेरी भौंहों के स्वयं पढ़ेंगे।

शेष ज़िंदगी शब्दों की व्याख्या में बिताएं
प्यार करो या गाली दो खामोश सुनेंगे।

जुलाई 1996

nraina@bol.net.in
011-26807579
Dr. R.L. Shant - (Delhi)

लेखक-परिचय

नाम : रतनलाल शांत

जन्म : 14 मई 1938, श्रीनगर, कश्मीर
आजकल विस्थापित होकर
जम्मू / दिल्ली में

शिक्षा : एम॰ए॰, डी॰फिल॰ (इलाहाबाद)

व्यवसाय : अध्यापन

संप्रति : स्वतंत्र लेखन। कविता के
अतिरिक्त आलोचना, नाटक,
कहानी

प्रकाशन : खोटी किरणें (कविताएं) पोशिमाल,
नुंदऋषि, (कश्मीरी कविताओं का
अनुवाद) त्रिभाषा कोश (सह–
संपादित) कवि–व्यक्तित्व और
आधुनिक काव्य चिंतन, कश्मीर–
साहित्यिक संदर्भ, समेक,
समकालीनों के बीच
(शीघ्र प्रकाश्य समालोचना–
ग्रंथ) कश्मीरी मे "बरौनियों पर
पहाड़"(कहानी) "कहानी क्या है?"
(आलोचना) "तीन बहनें"
(चेख़व का नाटक)
गद्य की किताब (सं॰)।
ज॰ क॰ राज्य एकेडेमी, नेहरू
पुरस्कार, उ॰ प्र॰ हिंदी संस्थान
से पुरस्कृत

पता : (1) 904, सुभाष नगर, जम्मू।
(2) ख॰ नं॰ 121–122,
अंधेरिया मोड़, छतरपुर,
नई दिल्ली।

"कश्मीरी और हिंदी दोनों भाषाओं के जाने माने रचनाधर्मी रतनलाल शांत ने अपनी मातृभाषा कश्मीरी में जिस दक्षता के साथ मौलिक लेखन किया है, वही दक्षता उनके हिंदी लेखन में भी परिलक्षित होती है।

रतनलाल शांत ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम॰ ए॰ और डी॰ फिल॰ की उपाधि प्राप्त की। अन्तःप्रेरणा, परिवेशजन्य प्रभाव, गहन अध्ययन और लेखकीय अभिरुचि के संयुक्त प्रभाव से लेखन के क्षेत्र में पदार्पण किया तो फिर रुके नहीं। उनकी लेखकीय यात्रा जो आरंभ हुई तो अबाध गतिशीलता के साथ आज भी जारी है। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी मातृ भाषा में अधिक प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति करता है किन्तु यह इनकी निष्ठा ही है जो उन्हें हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ मौलिक लेखक के रूप में भी स्थापित कर सकी है।

रतनलाल शांत की प्रमुख रूप से बहुचर्चित "खोटी किरणें" (कविताएँ), "पोशिमाल" (कश्मीरी कवि रसूलमीर की कविताएँ–अनूदित और सम्पादित), "रंगध्वनि" (हिन्दी के नाटक), "नुंद ऋषि" (शेख नूरुद्दीन की कश्मीरी कविताओं का अनुवाद एवं सम्पादन), "त्रिभाषा कोश" (हिन्दी–कश्मीरी–अंग्रेजी–सम्पादित, अन्य सम्पादकों के साथ–तीन खण्ड)। इससे स्पष्ट है कि डॉ॰ शांत ने कश्मीरी कविताओं को हिन्दी भाषा में अनूदित करने और सम्पादन करने में जिस सिद्धि का परिचय दिया है, वह अप्रतिम है। कोशकार के रूप में भी डॉ॰ शांत की सेवाएँ प्रशंस्य हैं। हिंदी–कश्मीरी–अंग्रेजी कोश एक बड़ी उपलब्धि है। जिसमें उनका योग महत्वपूर्ण माना जायगा।

रतनलाल शांत ने कश्मीरी भाषा में विविध विधाओं में मौलिक लेखन के अतिरिक्त विश्वप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं का कश्मीरी भाषा में अनुवाद किया है। "अछरवालन प्यठ कोह" उनका कश्मीरी भाषा में रचित मौलिक कहानियों का संग्रह है। "अफ़सॉनु क्याह गव" आलोचना की कृति है। "त्रे ब्यननि"(तीन बहनें) रूसी लेखक चेखव के नाटक का कश्मीरी अनुवाद है। एक अन्य कृति भी है जो कश्मीरी गद्य संकलन है।

रतनलाल शांत ने विविध विषयों में हिन्दी में सुंदर निबंधों की रचना की है। इन निबंधों में कुछ के शीर्षक हैं– कश्मीर की लोक संस्कृति, व्यक्तित्व की गरिमा और ईलियट, अस्तित्ववाद का कुहासा, कवि व्यक्तित्व : अभिव्यक्ति की समस्या, रचना प्रक्रिया और कवि–व्यक्तित्व, जम्मू कश्मीर में हिंदी गद्य, कश्मीरी रंगमंच और नाटक, कश्मीर का निर्वासन साहित्य, समकालीन हिन्दी कविता में वाम चेतना, गद्य शिक्षण और कहानी की भाषा आदि।"

– उ॰ प्र॰ हिन्दी संस्थान की प्रशस्ति, 1996, से

नीहार प्रकाशन

904, सुभाष नगर, जम्मू-180 005